भारतीय

इतिहास

का

विकृतीकरण

रघुनन्दन प्रसाद शर्मा

हिन्दू राइटर्स फोरम
129 बी, एम.आई.जी. फ्लेट्स, राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली–110027

प्रमुख विकृतियाँ

- आर्य भारत में बाहर से आए
- यूरोपवासी आर्यवंशी
- भारत की सभ्यता सर्वाधिक प्राचीन नहीं
- आदि मानव जंगली और मांसाहारी
- वेदों का संरचनाकाल 1500–1000 ई. पू. तक
- भारत में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव
- भारत का पुरातन साहित्य 'मिथ'
- भारत के राजवंशों के वर्णन अतिरंजित
- यूनानियों का सेंड्रोकोट्टस ही चन्द्रगुप्त मौर्य
- भारतीय काल–गणना अतिरंजित और अवैज्ञानिक
- प्राचीन भारतीय विद्वान काल–ज्ञान से अपरिचित
- गौतम बुद्ध का आविर्भाव 563 ई.पू. में
- आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य 788 ई. में अवतरित
- अशोक ने 265 ई.पू. में शासन संभाला
- कनिष्क का राज्यारोहण 78 ई. में
- विक्रम सम्वत के प्रवर्तक विक्रमादित्य का कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं
- सरस्वती नदी का कोई अस्तित्त्व नहीं
- भारत कभी एक राष्ट्र के रूप में रहा ही नहीं

प्रकाशन :

भारतीय इतिहास का विकृतीकरण

लेखक

रघुनन्दन प्रसाद शर्मा

@ प्रकाशक (एक संस्करण)

1000 प्रतियाँ

प्रथम संस्करण :
गुरु पूर्णिमा, 2064 वि.
युगा. 5109 / 2007 ई.

सहयोग राशि :
60.00 रु.

प्रकाशक :
हिन्दू राइटर्स फोरम
129 बी, एम.आई.जी. फ्लेट्स,
राजौरी गार्डन, नई दिल्ली–110027

क्या – कहाँ ?

दो शब्द

प्रकाशकीय

1. भारत का आधुनिक रूप में लिखित इतिहास 8
इतिहास–लेखन का श्रीगणेश • इतिहास–लेखन के लिए अंग्रेजों के प्रयास • इतिहास–लेखन में धींगामुस्ती

2. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, क्यों ? 11
इतिहास–लेखन का निमित्त उद्देश्य विशेष की प्राप्ति • उद्देश्य–प्राप्ति के लिए योजना • योजना का आभास • योजना को सफल बनाने में सहयोग • विकृतीकरण की स्वीकारोक्ति

3. भारत के इतिहास में विकृतियाँ कीं, किसने ? 14
परकीय सत्ताओं का इतिहास–लेखन में दखल •जर्मन और अंग्रेज लेखकों में भारत के सन्दर्भ में लिखने की होड़ •संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति के प्रचार से ईसाई पादरियों में बौखलाहट •इतिहास को विकृत करने वाले जर्मनी और इंग्लैण्ड के लेखक • इतिहास के विकृतीकरण में धन–लोलुप संस्कृतज्ञ भी पीछे नहीं रहे

4. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, कहाँ ? 17
प्राचीन ग्रन्थों/अभिलेखों में •प्राचीन राजाओं और राजवंशों की संख्याओं और राज्यकालों में •प्राचीन सम्वतों में • पुरातात्त्विक सामग्रियों के निष्कर्षों में

5. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, कैसे ? 22
भारत के प्राचीन विद्वानों को कालगणना–ज्ञान से अनभिज्ञ मानकर •माइथोलॉजी की कल्पना कर •विदेशी साहित्य को अनावश्यक मान्यता देकर •विदेशी पर्यटकों के विवरणों को प्रामाणिक समझकर • अनुवादों के प्रमाण पर •विकासवाद के अनुसरण पर • पुरातात्त्विक सामग्री की भ्रामक समीक्षा को स्वीकार कर • तिथ्यांकन प्रणाली की भ्रामक समीक्षा को मानकर • पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत के अधकचरे ज्ञान की श्रेष्ठता पर विश्वास कर

6. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं क्या – क्या ? 36
<u>ऐतिहासिक</u> : आर्य लोग भारत में बाहर से आए • आर्यों ने भारत के मूल निवासियों को युद्धों में हराकर दास या दस्यु बनाया • भारत के मूल निवासी द्रविड़ • दासों या दस्युओं को आर्यों ने अनार्य बनाकर शूद्र की कोटि में डाला • यूरोपवासी आर्यवंशी • भारत की सभ्यता विश्व में सर्वाधिक प्राचीन नहीं • आदि मानव जंगली और मांसाहारी • वेदों का संरचना काल 1500 से 1200 ई.पू. तक • भारत की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों की हेरा–फेरी
<u>साहित्यिक</u> : भारत में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव • भारत का प्राचीन साहित्य, यथा– रामायण, महाभारत, पुराण आदि 'मिथ' • राजाओं और राजवंशों के वर्णन अतिरंजित एवं अवास्तविक • सिकन्दर का भारत पर आक्रमण 327 ई. पू. में हुआ और सेंड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त मौर्य) 320 ई. पू. में भारत का सम्राट बना • यूनानी साहित्य में वर्णित सेंड्रोकोट्टस ही चन्द्रगुप्त मौर्य

• पालीबोथ्रा ही पाटलिपुत्र
<u>**वैज्ञानिक**</u> : भारतीय कालगणना अतिरंजित और अवैज्ञानिक
• प्रागैतिहासिक काल की अवधारणा • वैज्ञानिकता के नाम पर ऐतिहासिक तथ्यों की उलट–फेर
विविध : ऐतिहासिक महापुरुषों की तिथियाँ : • (क) गौतम बुद्ध का आविर्भाव 563 ई. पू. में हुआ • (ख) आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य 788 ई. में अवतरित हुए • (ग) अशोक ने 265 ई. पू. में शासन संभाला • (घ) कनिष्क का राज्यारोहण 78 ई. में हुआ • (ड.) विक्रम सम्वत के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व नहीं • सरस्वती नदी का कोई अस्तित्त्व नहीं • भारत का शासन समग्र रूप में एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत केवल अंग्रेजों के शासनकाल में आया उससे पूर्व वह कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा
7. निष्कर्ष 71
पराधीनता एक अभिशाप • अंग्रेजों की दृष्टि में भारतवासियों का मूल्यांकन • भारत का आधुनिक रूप में लिखित इतिहास–विजित जाति का इतिहास • भारत का वास्तविक इतिहास तो मानव जाति का इतिहास • भारतीय परम्पराओं और तथ्यों के विपरीत लिखा गया इतिहास भारत का इतिहास नहीं
परिशिष्ट : महाभारत के बाद भारत के विभिन्न राजवंशों के राजागण

दो शब्द

दिल्ली के उप राज्यपाल श्री विजय कपूर द्वारा 31 मार्च, 2003 को मेरी पुस्तक **''भारत का आधुनिक इतिहास लेखन एक प्रवंचना''** का लोकार्पण किया गया था। लोकार्पण के अवसर पर पुस्तक की सामग्री के संदर्भ में दी गई जानकारी के आधार पर समारोह में उपस्थित अनेक लोगों ने मुझे ऐसी पुस्तक लिखने पर साधुवाद दिया। बाद में विषय के ज्ञाता अनेक विद्वानों और पाठकों ने पुस्तक की भूरि–भूरि प्रशंसा की।

इतिहास घटित होता है, निर्देशित नहीं। जबकि भारत का वर्तमान में सुलभ इतिहास भारत की पराधीनता के काल में अंग्रेजों के निर्देशों के आधार पर लिखा गया था। विजयी जातियों द्वारा विजित जातियों का इतिहास जब भी लिखवाया गया है तो उसमें विजित जातियों को सदा ही स्वत्त्वहीन, पौरुषविहीन और विखण्डित दिखाने का प्रयास किया गया है, क्योंकि इसमें उनका स्वार्थ रहा है। अंग्रेज भी इस संदर्भ में अपवाद नहीं रहे। उनका यही प्रयास रहा कि भारतीयों को उनका ऐसा इतिहास दिया जाए जिससे उनमें अपने प्राचीन साहित्य के प्रति अनादर, संस्कृति के प्रति अरुचि, धर्म के प्रति अनास्था और राष्ट्र के प्रति अवहेलना की भावना भर जाए। वे अपने प्रयास में सफल भी हुए।

आज भारत स्वतंत्र है। यहाँ के नागरिक ही यहाँ के शासक हैं। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के हर नागरिक के मन में भारतीयता की शुद्ध भावना जागृत हो, उसमें अपनी संस्कृति, अपने राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा हो। आज भारत के प्रत्येक नागरिक को इस बात का ज्ञान होना परमावश्यक है कि वह उस भारत का मूल नागरिक है जो कभी विश्वगुरु रहा है और जिसकी आन–बान और शान के कसीदे विश्व गाता रहा है। उसके लिए यह जानना भी एक अनिवार्यता है कि उसके पूर्वज घुमन्तु, लुटेरे और आक्रान्ता नहीं रहे। वह उन पूर्वजों का वंशज है, जिन्होंने विश्व की सभी सभ्यताओं का नेतृत्व किया है, जिन्होंने कंकर–कंकर में शंकर का वास मानकर सम्पूर्ण सृष्टि को एकात्मता का पाठ पढ़ाया है और जिन्होंने सृष्टि के गूढ़ से गूढ़ रहस्यों को अनावृत करके वेद, शास्त्र, पुराण आदि के रूप में प्रचुर ज्ञान से युक्त साहित्य दिया है।

''भारत का आधुनिक इतिहास लेखन एक प्रवंचना'' 500 पृष्ठ की पुस्तक है जो कि मुख्यतः शोधकर्ताओं और इतिहास विषय के ज्ञाताओं के लिए है। सामान्य पाठक की सुविधा की दृष्टि से अनेक स्थानों से अनेक साथियों का सुझाव आया कि इसे संक्षिप्त रूप में प्रकाशित कराया जाए। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दू राइटर्स फोरम के अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रेमी डॉ. कृष्ण वल्लभ पालीवाल जी की प्रेरणा से तैयार की गई है। इसमें सभी विषयों को सार रूप में देने का प्रयास किया गया है। जिन बन्धुओं को किसी भी विषय के सम्बन्ध में अधिक जानकारी चाहिए तो मूल पुस्तक जो कि बाबा साहब आपटे स्मारक समिति, केशव कुंज, झण्डेवाला, देशबन्धु गुप्ता मार्ग, नई दिल्ली–55 से प्रकाशित हुई है, से ले सकते हैं।

यह मेरा 163वाँ प्रकाशन है। आशा है पूर्व प्रकाशनों की भाँति यह भी पाठकों को उपयोगी और रुचिकर लगेगा।

(रघुनन्दन प्रसाद शर्मा)

ए सी – 10, टैगोर गार्डन,
नई दिल्ली – 110 027
दूरभाष : 011–25191931

प्रकाशकीय

आज देश में भारत के इतिहास और भारतीय संस्कृति के संदर्भ में अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इसका प्रमुख कारण देश में प्रचलित हमारा इतिहास है। इस इतिहास का लेखन परतंत्रता काल में विशेषकर अंग्रेजों के समय में विदेशी सत्ता द्वारा विदेशी लेखकों के माध्यम से विदेशी आधारों पर अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु करवाया गया था।

पराधीनता व्यक्ति की हो या राष्ट्र की सदा ही दुःखदायी और कष्टकारी होती है। पराधीन व्यक्ति/राष्ट्र अपना स्वत्त्व और स्वाभिमान ही नहीं अपना गौरव और महत्त्व भी भूल जाता है या भूल जाने को बाध्य कर दिया जाता है। भारतीयों के साथ भी सुदीर्घ परतंत्रता काल में ऐसा ही हुआ है। वे भी अपनी समस्त विशिष्टताओं, श्रेष्ठताओं और महान सांस्कृतिक आदर्शों को विस्मृति के अन्धकार में विलीन कर चुके थे। वे अपने तात्कालिक स्वार्थ की पूर्ति/लाभ के लिए अपने देश के वास्तविक इतिहास और सांस्कृतिक गौरव को भुलाकर परकीय सत्ता की हाँ में हाँ मिलाकर उनकी गुलामी/चापलूसी करने में ही स्वयं को गौरवान्वित समझने लगे थे। जबकि परकीय सत्ताओं ने इस देश को सदा–सर्वदा के लिए गुलाम बनाए रखने की दृष्टि से अपने–अपने ढंग से भारतीय इतिहास और संस्कृति की गौरवगाथा को तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत किया है। धन–लोभी, पद और प्रतिष्ठा के आकांक्षी अनेक भारतीय लेखक भी 'हिज मास्टर्स वॉयज' के धुन पर नाचते हुए वही कुछ करते रहे तथा करवाते रहे, पढ़ते रहे तथा पढ़ाते रहे, लिखते रहे तथा लिखवाते रहे, जो परकीय सत्ताएँ चाहती थीं।

स्वाधीनता के पश्चात प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी के प्रयास से शिक्षा मंत्रालय द्वारा भारतीय इतिहास को सुधारने की दृष्टि से एक कमेटी बैठाई गई थी किन्तु कमेटी में सभी विद्वान मैकाले पद्धति से शिक्षित–प्रशिक्षित ही थे। अतः वे भारतीय दृष्टि से इस दिशा में विचार कर ही न पाए और एक सद्प्रयास व्यर्थ हो गया।

भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ श्री रघुनन्दन प्रसाद शर्मा ने अपने व्यापक अनुभव, अगाध निष्ठा, लेखनी की परिपक्वता तथा सतत साधना के बल पर हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास पर शताधिक पुस्तकों की रचना की है। इन्होंने 15 वर्ष लगाकर भारत के इतिहास में विकृतियाँ, क्यों तथा किसने की और कैसे, कहाँ तथा क्या–क्या की गईं, इसका लेखा–जोखा **''भारत का आधुनिक इतिहास लेखन एक प्रवंचना''** नाम से प्रकाशित किया है, उसमें दिए गए प्रमाणों, तर्कों एवं निदानों की इतिहास जगत में सर्वत्र प्रशंसा हुई है। पुस्तक लगभग 500 पृष्ठों की है, जो मुख्यतः शोधकर्ताओं के लिए है, जिसके पढ़ने में काफी समय लगता है। आज के व्यस्त जीवन में उपरोक्त बड़ी पुस्तक को पाठकों तक पहुँचाने के लिए मैंने विद्वान लेखक से इसका संक्षिप्त संस्करण तैयार करने का आग्रह किया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैकाले, मैक्समूलर, मार्क्सवादियों के द्वारा भारतीय इतिहास में की गई विकृतियों के निराकरण करने की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। पाठकों की प्रतिक्रिया साभार आमंत्रित हैं।

डॉ. कृष्ण वल्लभ पालीवाल
अध्यक्ष
हिन्दू राइटर्स फोरम

1. भारत का आधुनिक रूप में लिखित इतिहास

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने की परम्परा देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की स्थापना के साथ–साथ ही शुरू हो गई थी। कम्पनी के शासन काल में देश के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, शैक्षिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में पाश्चात्य ढंग की नई–नई खोजें, व्याख्याएं और प्रक्रियाएं चालू हो गई थीं। इनमें से भारतवासियों के लिए कुछ यदि लाभकर रहीं, तो काफी कुछ हानिकर भी। फिर भी वे चलाई गईं और उन्हें मान्यता भी मिली क्योंकि वारेन हेस्टिंग्स के समय तक सत्ता की बागडोर अंग्रेजों के हाथों में पूरी तरह से पहुँच चुकी थी और देश में सभी कार्य उनकी ही इच्छाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप होने लगे थे।

इतिहास–लेखन का श्रीगणेश

जहाँ तक उस समय देश में इतिहास–लेखन के क्षेत्र का सम्बन्ध था, उसमें भी अन्य क्षेत्रों की भाँति ही नए ढंग से अनुसंधान और लेखन के प्रयास शुरू किए गए। इस दृष्टि से यद्यपि सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, जॉर्ज टर्नर, जेम्स प्रिंसेप, पार्जिटर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं तथापि इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कलकत्ता उच्च न्यायालय में कार्यरत तत्कालीन न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। उन्होंने भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने के लिए नए ढंग से शोधकार्य करने का सिलसिला शुरू किया। इस कार्य में उन्हें कम्पनी के तत्कालीन गवर्नर–जनरल वारेन हेस्टिंग्स का पूरा–पूरा सहयोग मिला। फलतः एक व्यापारिक कम्पनी भारत में एक सशक्त राजशक्ति बन गई।

1757 ई. में हुए प्लासी के युद्ध के परिणामों से प्रोत्साहित होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत पर अंग्रेजी राज्य की स्थापना का जो स्वप्न सजाया गया था, उसे सार्थक करने के लिए न केवल भारत में कार्यरत कम्पनी के लोगों ने ही वरन इंग्लैण्ड के सत्ताधीशों ने भी पूरा–पूरा प्रयास किया। इस संदर्भ में मैकाले द्वारा अपने एक मित्र राउस को लिखे गए पत्र की यह पंक्ति उल्लेखनीय है–

''अब केवल नाम मात्र का नहीं, हमें सचमुच में नवाब बनना है और वह भी कोई पर्दा रखकर नहीं, खुल्लमखुल्ला बनना है।'' (मिल कृत 'भारत का इतिहास', खण्ड 4, पृ. 332–स्वामी विद्यानंद सरस्वती कृत 'आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृ. 9 पर उद्धत)

इतिहास–लेखन के लिए अंग्रेजों के प्रयास

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में अर्थात अपनी इच्छानुसार लिख सकें अथवा लिखवा सकें, इसके लिए कम्पनी सरकार ने अंग्रेज इतिहासकारों के माध्यम से सघन प्रयास कराए जिन्होंने भारत की प्राचीन सामग्री, यथा– ग्रन्थ, शिलालेख आदि, जिसे पराधीन रहने के कारण भारतीय भूल चुके थे, खोज–खोज कर निकाली। साथ ही भारत आने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरणों का अनुवाद अंग्रेजी में करवाया और उनका अध्ययन किया किन्तु भारतीय सामग्री में से ऐसी सामग्री बहुत कम मात्रा में मिली जो उनके काम आ सकी। अतः उन्होंने उसे अनुपयुक्त समझकर अप्रामाणिक करार दे दिया।

मनगढ़न्त सिद्धान्तों का निर्धारण– बाद में स्व–विवेक के आधार पर उन्होंने भारत का इतिहास लिखने की दृष्टि से अनेक मनगढ़न्त निष्कर्ष निर्धारित कर लिए और सत्ता के बल पर उनको बड़े जोरदार ढंग से प्रचारित करना/करवाना शुरू कर दिया। कतिपय उल्लेखनीय निष्कर्ष इस रूप में रहे –

(1) प्राचीन भारतीय विद्वानों में ऐतिहासिक लेखन–क्षमता का अभाव रहा।

(2) भारत में विशुद्ध ऐतिहासिक अध्ययन के लिए सामग्री बहुत कम मात्रा में सुलभ रही।

(3) भारत के प्राचीन विद्वानों के पास कालगणना की कोई निश्चित और ठोस विधा कभी नहीं रही।

(4) भारत के इतिहास की अधिक सही तिथियाँ वे रहीं जो भारत से नहीं, विदेशों से मिलीं।

(5) भारत के इतिहास की प्राचीनतम सीमा 2500–3000 ईसा पूर्व तक ही रही।

(6) आर्यों ने भारत में बाहर से आकर यहाँ के पूर्व निवासियों को युद्धों में हराकर अपना राज्य स्थापित किया और हारे हुए लोगों को दास बनाया।

(7) प्राचीन भारतीय पौराणिक साहित्य में वर्णित राजवंशावलियाँ तथा राजाओं की शासन अवधियाँ अतिरंजित होने से अप्रामाणिक और अविश्वसनीय हैं।

(8) रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थ 'मिथ' हैं।

(9) भारत का शासन समग्र रूप में एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन अंग्रेजी शासन के आने से पूर्व कभी नहीं रहा।

उक्त निष्कर्षों को प्रचारित करके उन्होंने भारत के समस्त प्राचीन साहित्य को तो नकार ही दिया, साथ ही भारतीय पुराणों, धार्मिक ग्रन्थों और प्राचीन वाङ्मय में सुलभ सभी ऐतिहासिक तथ्यों और कथ्यों को भी अप्रामाणिक और अविश्वसनीय करार दे दिया।

विलियम जोन्स द्वारा निर्धारित मानदण्ड– ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सर विलियम जोन्स के माध्यम से इस देश के इतिहास को नए ढंग से लिखवाने की शुरूआत की। जोन्स ने भारत का इतिहास लिखने की दृष्टि से यूनानी लेखकों की पुस्तकों के आधार पर 3 मानदण्ड स्थापित किए–

आधार तिथि– भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के समय अर्थात 327–328 ई. पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य विद्यमान था और उसके राज्यारोहण की तिथि 320 ई. पू. थी। इसी तिथि को आधार तिथि मानकर भारत के सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास के तिथिक्रम की गणना की जाए क्योंकि इससे पूर्व की ऐसी कोई भी तिथि नहीं मिलती जिसे भारत का इतिहास लिखने के लिए आधार तिथि बनाया जा सके।

सम्राट का नाम– यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित सेंड्रोकोट्टस ही चन्द्रगुप्त मौर्य था और सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात वही भारत का सम्राट बना था।

राजधानी का नाम– यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित पालीबोथ्रा ही पाटलिपुत्र था और यही नगर चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी था।

इतिहास–लेखन में धींगामुस्ती

इतिहास–लेखन के कार्य में उस समय कम्पनी में कार्यरत जहाँ हर अंग्रेज ने पूरा–पूरा सहयोग दिया, वहीं कम्पनी ने भी ऐसे लोगों को सहयोग और प्रोत्साहन दिया, जिन्होंने भारतीय इतिहास से सम्बंधित कथ्यों और तथ्यों को अप्रामाणिक, अवास्तविक, अत्युक्तिपूर्ण और सारहीन सिद्ध करने का प्रयास किया। पाश्चात्य विद्वानों के भारतीय इतिहास–लेखन के संदर्भ में उक्त निष्कर्षों और मानदण्डों को आधार बनाकर तत्कालीन सत्ता ने आधुनिक रूप में भारत का इतिहास–लेखन कराया।

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने के लिए पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो सघन प्रयास किए गए, वे इसलिए तो प्रशंसनीय रहे कि विगत एक हजार वर्ष से अधिक के कालखण्ड में इस दिशा में स्वयं भारतवासियों द्वारा 'राजतरंगिणी' की रचना को छोड़कर कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं किया गया था किन्तु इतने परिश्रम के बाद भारत का जो इतिहास उन्होंने तैयार किया, उसमें भारत के ऐतिहासिक घटनाक्रम और तिथिक्रम को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया कि आज अनेक भारतीय विद्वानों के लिए उसकी वास्तविकता सन्देहास्पद बन गई। फिर यही नहीं, इस क्षेत्र में जो धींगामुस्ती अंग्रेज 200 वर्षों में नहीं कर पाए, वह पाश्चात्योन्मुखी भारतीय इतिहासकारों ने स्वाधीन भारत के 50 वर्षों में कर दिखाई। वस्तुतः इतिहास किसी भी देश अथवा जाति की विभिन्न परम्पराओं, मान्यताओं तथा महापुरुषों की गौरव

गाथाओं और संघर्षों के उस सामूहिक लेखे–जोखे को कहा जाता है जिससे उस देश अथवा जाति की भावी पीढ़ी प्रेरणा ले सके। जबकि भारत का इतिहास आज जिस रूप में सुलभ है उस पर इस दृष्टि से विचार करने पर निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि उससे वह प्रेरणा मिलती ही नहीं जिससे भावी पीढ़ी का कोई मार्गदर्शन हो सके। उससे तो मात्र यही जानकारी मिल पाती है कि इस देश में किसी का कभी भी अपना कुछ रहा ही नहीं। यहाँ तो एक के बाद एक आक्रान्ता आते रहे और पिछले आक्रान्ताओं को पददलित करके अपना वर्चस्व स्थापित करते रहे। यह देश, देश नहीं, मात्र एक धर्मशाला रही है, जिसमें जिसका भी और जब भी जी चाहा, घुस आया और कब्जा जमाकर मालिक बनकर बैठ गया।

❐

2. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, क्यों ?

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने या लिखवाने के लिए अंग्रेजों ने जो धींगामुस्ती की थी उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उन्होंने यह इतिहास भारतीयों के ज्ञानवर्धन के लिए नहीं वरन अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु लिखवाया था।

इतिहास लेखन का निमित्त उद्देश्य विशेष की प्राप्ति

जब भारत पर अंग्रेजों ने छल से, बल से और कूटनीति से पूरी तरह से कब्जा कर लिया तो उन्हें उस कब्जे को स्थाई बनाने की चिन्ता हुई। भारत में अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए उन्हें तलवार के बल की अपेक्षा यह मार्ग सरल लगा कि इस देश का इतिहास, भाषा और धर्म बदल दिया जाए। उनका दृढ़ विश्वास था कि संस्कृति के बदले हुए परिवेश में जन्मे, पले और शिक्षित भारतीय कभी भी अपने देश और अपनी संस्कृति की गौरव–गरिमा के प्रति इतने निष्ठावान, अपनी सभ्यता की प्राचीनता के प्रति इतने आस्थावान और अपने साहित्य की श्रेष्ठता के प्रति इतने आश्वस्त नहीं रह सकेंगे। इसीलिए उन्होंने अधिकांशतः तो जान–बूझकर और कुछ मात्रा में अज्ञान और असावधानी के कारण भारत के इतिहास की प्राचीन घटनाओं, नामों और तिथियों को तोड़–मरोड़कर अपनी इच्छानुसार प्रस्तुत करके उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनाया।

उद्देश्य – प्राप्ति के लिए योजना

कम्पनी सरकार ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त एक बहुमुखी योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्गत पाश्चात्य चिन्तकों और वैज्ञानिकों ने, इतिहासकारों और शिक्षा–शास्त्रियों ने, लेखकों और अनुवादकों ने, अंग्रेज प्रशासकों और ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत की प्राचीनता, व्यापकता, अविच्छिन्नता और एकात्मता को ही नहीं, समाज में ब्राह्मणों यानी विद्वानों के महत्त्व और प्रतिष्ठा को नष्ट करने के उद्देश्य से एक सम्मिलित अभियान चलाया। इस अभियान के अन्तर्गत ही यह प्रचारित किया गया कि भारतीय सभ्यता इतनी प्राचीन नहीं है जितनी कि वह बताई जाती है, रामायण और महाभारत की घटनाएँ कपोल–कल्पित हैं – वे कभी घटी ही नहीं, आदि–आदि। सत्ता में रहने के कारण उन्हें इस प्रचार का उचित लाभ भी मिला। अंग्रेजी सत्ता से प्रभावित अनेक भारतीय, जिनमें वेतनभोगी तथा धन और प्रतिष्ठा के लोलुप संस्कृत के कतिपय विद्वान भी सम्मिलित थे, 'हिज मास्टर्स वॉयस' के अनुरूप जमूरों की तरह नाचने लगे। अंग्रेजों के शासनकाल में सत्ता से व्यक्तिगत स्तर पर पद–प्रतिष्ठा, मान–सम्मान, धन–सम्पदा आदि की दृष्टि से लाभ उठाने के लिए भारत के एक विशिष्ट वर्ग द्वारा उनकी चाटुकारिता के लिए किए गए प्रयासों की तो बात ही क्या स्वाधीनता के बाद भी भारत में गुलामी की मानसिकता वाले लोगों की कमी नहीं रही, न तो प्रशासनिक स्तर पर, न शिक्षा के स्तर पर, न लेखन के स्तर पर और न ही चिन्तन या दर्शन के स्तर पर। देशभर में बड़े पैमाने पर व्याप्त इस मानसिकता को अनुचित मानते हुए भारत के पूर्व राष्ट्रपति एवं आधुनिक भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने पराधीनता की मानसिकता को धिक्कारते हुए एक स्थान पर लिखा है –

"The Policy inaugurated by Macaulay, with all its cultural value, is loaded on one side. While it is so careful as not to make us forget the force and validity of western culture, it has not helped us to love our own culture and refine it where necessary. In some cases, Macaulay's wish is fulfilled and we have educated Indians who are 'more English than English themselves' to quote his well known words. Naturally some of these are not behind the hostile foreign critic in their estimate of the History of Indian culture. They look upon India's cultural evolution as one

dreary scene of discord, folly and superstition. They are eager to imitate the material achievements of Western States and tear up the roots of ancient civilisation, so as to make room for the novelities imported from the West. One of their members recently declared that if India is to thrive and flourish, England must be her 'spiritual mother' and Greece her 'spiritual grand mother'

('आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृ. 28 पर उद्धृत)

योजना का आभास

भारत का इतिहास, धर्म और भाषा बदलकर उसे ईसाई देश बनाने की कम्पनी सरकार की योजना बहुत ही गुप्त थी। इसका निर्माण कब, कहाँ और कैसे हुआ, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी उस समय किसी को भी नहीं मिल सकी। यह तो बाद में उन्हीं के लोगों द्वारा जब लिखित रूप में माना गया, तभी पता चला। इस संदर्भ में इंग्लैण्ड के लॉर्ड मैकाले तथा मोनियर विलियम्स और जर्मन विद्वान मैक्समूलर के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं–

लॉर्ड टी. वी. मैकाले– 1834 ई. में भारत के शिक्षा प्रमुख बने लार्ड मैकाले ने भारतीयों को शिक्षा देने के लिए बनाई अपनी नई नीति के संदर्भ में अपने पिता को लिखा था–

''मेरी बनाई शिक्षा पद्धति से यहाँ (भारत में) यदि शिक्षाक्रम चलता रहा तो आगामी 30 वर्षों में एक भी आस्थावान हिन्दू नहीं बचेगा। या तो वे ईसाई बन जाएंगे या नाम मात्र के हिन्दू बने रहेंगे। धर्म पर या वेद शास्त्रों पर उनको विश्वास नहीं होगा। स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म में हस्तक्षेप न करते हुए भी, बाह्य रूप से उसकी धार्मिक स्वतंत्रता कायम रखते हुए भी हमारा उद्दिष्ट सफल होगा।'' (डॉ. लीना रस्तोगी कृत, 'विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 90 पर उद्धृत)

मोनियर विलियम्स– विलियम्स ने 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड दी इण्डियन्स', के तीसरे संस्करण, 1879 के पृष्ठ 261 पर लिखा था : "When the walls of the mighty fortrees of Brahmanism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of christiannity must be signal and complete. – जब ब्राह्मणों के शक्तिशाली दुर्ग की प्राचीरें ईसाई सिपाहियों द्वारा घेर ली जाएंगी, दुर्बल बना दी जाएंगी और नष्ट कर दी जाएंगी तभी ईसाइयत की विजय का पूर्ण संकेत मिलेगा।'' (पं. भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास', भाग–1, पृ. 43 पर उद्धृत)

फ्रैडरिक मैक्समूलर– इनका वास्तविक मन्तव्य इनके पत्रों से, जो इनकी पत्नी ने 1902 ई. में छपवाए थे, ज्ञात होता है –

पत्नी को : ''वेद का अनुवाद और मेरा (सायण–भाष्य सहित ऋग्वेद का) यह संस्करण उत्तर काल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल है और मैं निश्चय से अनुभव करता हूँ कि उन्हें यह दिखाना कि मूल कैसा है, गत तीन सहस्र वर्ष में उससे उपजी सब बातों के उखाड़ने का एकमात्र उपाय है। (पं. भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास', भाग–1, पृष्ठ 41 पर उद्धृत)

भारत सचिव (डयूक ऑफ आर्गाइल) को : 'भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता तो यह किसका दोष होगा ?' ('विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 92 पर उद्धृत)

योजना को सफल बनाने में सहयोग

भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थाइत्त्व प्रदान कराने के लिए कम्पनी सरकार ने भारत के इतिहास, धर्म और भाषा को बदलने की जो योजना बनाई थी उसमें जोन्स के साथ–साथ वारेन हेस्टिंग्ज का तो सहयोग था ही, उसे आगे बढ़ाने में मैक्समूलर, वैबर, विल्सन, विंटर्निट्स, मैकाले, मिल, फ्लीट बुहलर आदि

का भी पूर्ण योगदान रहा है। जोन्स, मिल, विंटर्निट्ज ने जहाँ भारत के इतिहास को परिवर्तित रूप प्रदान करने में अग्रणी भूमिका निभाई, वहीं पाश्चात्य पादरीगण ईसाई धर्म को अधिक से अधिक व्यापक और विस्तृत परिवेश दिलाने में किसी से पीछे नहीं रहे। मैकाले ने जहाँ शिक्षा के माध्यमों को बदल कर संस्कृत और भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित कराने में मदद की वहीं मैक्समूलर, वेबर, विल्सन आदि ने भारतीय ग्रन्थों का भ्रष्ट अनुवाद और गलत व्याख्याएँ प्रस्तुत करके तथाकथित शिक्षित लोगों के मनों में धर्म के प्रति अनास्था और भाषा के प्रति अरुचि पैदा करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। फ्लीट और बुहलर सरीखे पुरातात्त्विक भी इस दृष्टि से किसी से पीछे नहीं रहे।

अंग्रेजी सत्ता भारत में ईसाइयत फैलाने के लिए कितनी उत्सुक थी, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण निम्नलिखित उद्धरणों से प्राप्त होता है –

लॉर्ड पामर्स्टन, इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री – 1859 ई.

''यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा अपना हित भी इसी में है कि भारत भर में ईसाइयत का प्रचार हो।'' (एक घोषणा)

मि. मेंगल्स, अध्यक्ष, बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स, ईस्ट इण्डिया कम्पनी

''विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लैण्ड के हाथों में इसलिए सौंपा है कि ईसामसीह का झण्डा इस देश में एक कोने से दूसरे कोने तक लहराए। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान कार्य में जुट जाए'' (इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट में दिया गया भाषण)

('आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृ. 27–28 पर उद्धृत)

विकृतीकरण की स्वीकारोक्ति

यह ठीक है कि भारत के इतिहास को बिगाड़ने के लिए अंग्रेजों ने अनथक और अविरल प्रयास किए किन्तु किसी ने भी इस बात को इतने स्पष्ट रूप में नहीं स्वीकारा है, जितना कि एडवर्ड थौमसन नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने। इसने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है –

''हमारे इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया है। उस दृष्टिकोण को बदलने के लिए जो साहसपूर्ण एवं सशक्त समीक्षाशक्ति अपेक्षित है, वह भारतीय इतिहासकार अभी बहुत समय तक नहीं दे सकेंगे।''

(भजनसिंह कृत, ''आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय'', पृ. 19 पर उद्धृत)

❐

3. भारत के इतिहास में विकृतियाँ कीं, किसने ?

परतंत्रता की स्थिति चाहे व्यक्ति की हो या परिवार अथवा राष्ट्र की, सभी के लिए दुःखदायी होती है। पराधीन व्यक्ति/परिवार/राष्ट्र अपनी गौरव–गरिमा और महत्ता, सभी कुछ भूल जाता है या भूल जाने को बाध्य कर दिया जाता है। भारत के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। 1000 वर्ष की पराधीनता के काल में वह अपना स्वत्व और स्वाभिमान ही नहीं अपना महत्त्व भी भूल गया था।

परकीय सत्ताओं का इतिहास–लेखन में दखल

परतंत्रता के काल में परकीय सत्ताओं द्वारा सदा ही अपने अधीनस्थ देश का चाहे व्यक्ति हो या समाज, धर्म हो या संस्कृति, साहित्य हो या इतिहास, ज्ञान हो या विज्ञान, सभी में तरह–तरह की विकृतियाँ, विसंगतियाँ, विषमताएँ, दुर्बलताएँ और कमियाँ पैदा कर दी जाती हैं या करा दी जाती हैं। भारत में आईं परकीय सत्ताएँ भी इसमें अपवाद नहीं रहीं। मुसलमानों ने अपने शासनकाल में यहाँ ऐसी अनेक नीतियाँ, रीतियाँ और परम्पराएँ चलाईं जिनके कारण देश में उस समय प्रचलित पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं की ही नहीं, यहाँ के साहित्य और इतिहास की भी दिशाएँ बदल गईं। अंग्रेजी सत्ता द्वारा भी अपना वर्चस्व स्थापित हो जाने के बाद मुस्लिम सत्ता की भाँति देश की शिक्षा पद्धति में बदलाव लाया गया। शिक्षा में लाए गए बदलाव के फलस्वरूप संस्कृत भाषा के विकास में रुकावटें आती गईं। फलतः उसमें साहित्य–निर्माण और विविध प्रकार के वैज्ञानिक आदि विषयों में लेखन की अविच्छिन्न धारा अवरुद्ध होती गई। परिणामस्वरूप भारत की शिक्षा, साहित्य, इतिहास, ज्ञान–विज्ञान आदि के लेखन में ह्रास की प्रक्रिया शुरू हो गईं और कालान्तर में इन विषयों के विद्वानों की संख्या भी न्यून से न्यूनतर होती चली गई। ऐसी स्थिति में इतिहास विषय के महत्त्व को समझने और समझाने वालों का लोप हो जाना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं रही। यही कारण रहा कि उस काल में कल्हण विरचित 'राजतरंगिणी' जैसी उत्कृष्ट ऐतिहासिक रचना भी भारत में वह महत्त्व न पा सकी, जिसकी वह अधिकारिणी थी।

जर्मन और अंग्रेज लेखकों में भारत के संदर्भ में लिखने की होड़

अंग्रेजी सत्ता द्वारा पोषित आधुनिक रूप में भारत के प्राचीन साहित्य, समाज और संस्कृति के इतिहास–लेखन की प्रक्रिया में मुख्य रूप से जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने आगे बढ़कर अपने–अपने लक्ष्यों और अपने–अपने दृष्टिकोणों से प्रभावित रहकर इस क्षेत्र में योगदान किया। किसी ने संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा, किसी ने संस्कृत भाषा का इतिहास लिखा, किसी ने भारत का इतिहास लिखा, किसी ने भारतीय संस्कृति का इतिहास लिखा और किसी ने भारतीय रचनाओं का अनुवाद किया। इन आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के द्वारा लिखे गए साहित्य के परिमाण को देखने से ऐसा लगता है कि उस समय जर्मनी और इंग्लैण्ड के विद्वानों में भारत के संदर्भ में लिखने की होड़ सी लग गई थी किन्तु उनके ग्रन्थों को देखने से ऐसा लगता है कि उनमें से अधिकांश ने इस क्षेत्र में हल्दी की एक–एक गांठ लेकर पंसारी बनने का ही प्रयास किया है। कारण उनको भारतीय जीवन की विविधता, भारतीय साहित्य की गहनता और भारतीय इतिहास की व्यापकता का पूर्ण तो क्या सामान्य परिचय भी नहीं था। यही कारण रहा कि उस काल में रचित पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं में, चाहे वे संस्कृत भाषा के इतिहास की हों या साहित्य के इतिहास की अथवा भारतीय समाज या सभ्यता के इतिहास की, किसी में भी विषय का सही मूल्यांकन प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति के प्रचार से ईसाई पादरियों में बौखलाहट

यूरोप के विभिन्न विद्वान जैसे–जैसे संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के सम्पर्क में आते गए वे न केवल इनके वरन भारतीय संस्कृति के महत्त्व, गरिमा और महत्ता से परिचित होते गए फलतः वे इनकी ओर बड़ी उत्सुकता तथा तेजी से बढ़े। धीरे–धीरे यूरोप में संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति की ज्ञान गरिमा का प्रकाश फैलने लगा। प्रारम्भ में तो यह बात वहाँ के यहूदी और ईसाई समुदायों ने अच्छे रूप में ली किन्तु जैसे–जैसे इनका प्रचार अधिक मात्रा में होने लगा तो वहाँ के ईसाई पादरियों के कान खड़े होते गए। उन्हें अपने पैरों के नीचे से जमीन खिसकती दिखाई दी क्योंकि ईसाई पादरियों ने सत्ता के बल पर धर्म आदि के संदर्भ में यूरोप में तरह–तरह की झूठी बातों को सत्य का जामा पहना कर बड़े जोर–शोर से प्रचारित किया हुआ था, यथा– ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण 4004 ई. पू. में किया था और इससे पूर्व कहीं भी कुछ भी नहीं था, बाइबिल में व्यक्त विचार ही सर्वश्रेष्ठ हैं, आदि–आदि। यही नहीं, ईसाई धर्म वालों ने यह भी प्रचारित किया हुआ था कि सृष्टि निर्माण के काल की बात को झूठा मानने वालों को सजा दी जाएगी और सजा मौत भी हो सकती थी। जबकि संस्कृत साहित्य सृष्टि के निर्माण को लाखों–लाखों वर्ष पूर्व ले जा रहा था और इससे उनकी बातें झूठी सिद्ध हो रही थीं। इसीलिए संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति तथा इतिहास की पुरातनता की बात उन्हें बहुत खलने लगी।

इतिहास को विकृत करने वाले जर्मनी और इंग्लैण्ड के लेखक

यूरोप में संस्कृत भाषा और उसके साहित्य तथा भारतीय संस्कृति का अधिक मात्रा में प्रचार हो जाने से वहाँ के ईसाई धर्म के प्रचारकों में खलबली मच गई और उन्होंने इसके प्रतिकार के लिए सारे यूरोप में ही, विशेषकर जर्मनी और इंग्लैण्ड में, अनेक लेखक तैयार किए। इनमें से जर्मनी के फ्रैडरिक मैक्समूलर, रुडाल्फ रॉथ, अल्वर्ट वेबर, एम. विंटर्निट्स, फ्लीट, ए स्टेन तथा इंग्लैण्ड के विलियम जोन्स, मैकाले, मिल, मैलकम, विल्फोर्ड, वेंटले, विल्सन, एल्फिन्सटन, कीथ, मैक्डानल अधिक उल्लेखनीय रहे। इन सभी ने अपने–अपने ढंग से भारत के इतिहास, संस्कृति और साहित्य को बिगाड़ने का प्रयास किया और खूब किया। इन लोगों ने भारतीय तर्कों को कुतर्कों में, ज्ञान को अज्ञान में, सत्य को असत्य में, प्रमाणों को कुप्रमाणों में बदल दिया और हर प्रकार से सब के मन में यही बात बैठाने का प्रयास किया कि प्राचीन काल में भारत में कुछ भी नहीं था। यहाँ के निवासी परस्पर लड़ते–झगड़ते रहते थे और वे ज्ञान–विज्ञान विहीन थे।

उक्त लेखकों के अलावा भी प्रिंसेप, जेम्स लीगे, डॉ. यूले, लॉसन, मैकालिफ आदि अन्य अनेक लेखक भी आगे आए, जिन्होंने अपनी–अपनी रचनाओं के माध्यम से भारत के इतिहास और साहित्य के क्षेत्रों में घुसपैठ करके उसे अधिक से अधिक भ्रष्ट करके अप्रामाणिक, अविश्वसनीय और अतिरंजित की कोटि में डालने का प्रयास किया।

इतिहास के विकृतीकरण में धन–लोलुप संस्कृतज्ञ भी पीछे नहीं रहे

अंग्रेजी सत्ता यह भली प्रकार से जान चुकी थी कि जर्मनी अथवा इंग्लैण्ड के लोग चाहे जितनी मात्रा में सत्ता–समर्थक बातें कहते रहें, वे भारतीयों के गले में तब तक नहीं उतरेंगी, जब तक यहीं के लोग वैसा नहीं कहेंगे। अतः उन्होंने यहीं के अनेक धन–पद लोलुप संस्कृत के विद्वानों को धन, पद और प्रतिष्ठा का लालच दिखाकर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कही गई बातों को ही उनके अपने लेखन में दोहरवाकर अपनी बातों की पुष्टि कराने के लिए तैयार कर लिया और वे प्रसन्नतापूर्वक ऐसा करने लगे। इनमें मिराशी, कपिल देव, सुधाकर द्विवेदी, विश्वबन्धु, शिवशंकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, डॉ. लक्ष्मण स्वरूप, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी भी इस दृष्टि से किसी तरह से पीछे नहीं रहे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत का इतिहास बिगाड़ने में मात्र जर्मनी और इंग्लैण्ड के विदेशी विद्वानों का ही नहीं, भारत के अपने विद्वानों, विशेषकर संस्कृत के, का भी योगदान रहा है।

❐

4. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, कहाँ ?

अंग्रेजी सत्ता के समक्ष भारत के इतिहास, धर्म और भाषा को बदलने की योजना को सार्थक बनाने में सबसे बड़ी बाधा यहाँ का अपार ज्ञान से युक्त बड़ी मात्रा में सुलभ साहित्य था। साहित्य के बल पर ही भारत के लोग बार–बार गिरकर भी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना से भरकर पुनः संघर्षरत हो उठते थे। सदियों तक एक के बाद दूसरे युद्धों में लगे रहने और सैंकड़ों वर्षों तक निरन्तर पराधीन बने रहने पर भी भारतीय न केवल अपने प्राचीन साहित्य के महत्त्व को ही वरन अपनी पुरातन संस्कृति, सभ्यता, रीति–रिवाज, रहन–सहन और धर्म के स्वरूप को भी बहुत कुछ उसी रूप में अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ रह सके, जिसमें वे अत्यन्त प्राचीन काल में रहे हैं। जबकि चीन, मिस्र, यूनान, रोम आदि देश, जहाँ कभी विश्व प्रसिद्ध सभ्यताएँ जन्मीं, उभरी और विकसित हुई, कालान्तर में अपनी संस्कृति, साहित्य, सभ्यता आदि को विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जाने से रोक नहीं सके। भारत में वेद, शास्त्र, रामायण, महाभारत, गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों का आज भी वही महत्त्व और सम्मान है, जो आज से हजारों–हजारों वर्ष पूर्व रहा है।

यह ठीक है कि मुसलमानी राज्यकाल में भारतीय ज्ञान की उस अनन्त राशि में से बहुत बड़े परिमाण में ग्रन्थों को जलाकर नष्ट कर दिया गया। फिर भी एक से एक श्रेष्ठ ऐसे अनेक ग्रन्थ यहाँ सुलभ रहे, जो देश, धर्म, समाज और संस्कृति को ऊँचा उठाए रखने में पूरी तरह से समर्थ हैं। अंग्रेजी सत्ता यह बात भली प्रकार से समझ चुकी थी कि जब तक भारत के उन ग्रन्थों और उनके महत्त्व को पूरी तरह से समाप्त नहीं कर दिया जाएगा, तब तक इस देश को अधिक समय तक परतंत्र नहीं रखा जा सकेगा। समय बदल चुका था, अब वह उन ग्रन्थों सहित अपार साहित्य को जलाकर तो नष्ट कर नहीं सकती थी। हाँ, उनके महत्त्व को कम अवश्य कर सकती थी। अतः उसका पहला प्रयास यही हुआ कि भारत के प्राचीन इतिहास और उसकी संस्कृति के मूल स्रोत साहित्यिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों की श्रेष्ठता और महत्ता को नकारा जाए। इसके लिए उनके प्रति समाज में अनादर, अनास्था, अविश्वास और अरुचि की भावना पैदा कराना आवश्यक था। इसलिए उसने उन ग्रन्थों और उनमें स्थापित मान्यताओं के बारे में ऐसी मनगढ़ंत बातें प्रचारित कराईं, जिनके आधार पर उन ग्रन्थों को अविश्वसनीय, अतिरंजित, कल्पित और अप्रामाणिक बताकर उन्हें महत्त्वहीन और काल्पनिक करार देना सहज हो गया। इस कार्य में तत्कालीन अंग्रेजी सत्ता ने ऐसे पाश्चात्य विद्वानों का सहयोग लिया जो साहित्य, इतिहास, पुरातत्व आदि के क्षेत्रों से सम्बंधित थे। उन लोगों के माध्यम से अंग्रेजी सत्ता ने ऐतिहासिक प्रमाणों से युक्त ऐसे भारतीय ग्रन्थों/अभिलेखों में, जिनसे भारत की प्राचीनता और श्रेष्ठता सिद्ध होती थी या तो पाठ बदलवा दिया या भारत की प्राचीनता को कम करने की दृष्टि से भारतीय इतिहास के प्राचीन राजवंशों के न केवल राज्यकालों को ही कम करके दिखलवाया वरन अनेक राजाओं की आयु को कम करके उनके राज्यकालों को भी कम करवा दिया। अपनी कल्पित कालगणना को सही सिद्ध करवाने की दृष्टि से प्राचीन भारतीय सम्वतों को पूरी तरह से नकार कर न केवल उन्हें महत्वहीन करवाया वरन अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उनमें तरह–तरह की गड़बड़ियाँ भी करवाईं, यथा– किसी का तो प्रयोग न करके उसको एकदम अमान्य कर दिया, किसी का नाम बदल दिया और किसी को किसी दूसरे के साथ मिला दिया। जहाँ तक पुरातात्त्विक साक्ष्यों का सम्बन्ध था, उनसे भी भारत की प्राचीनता सिद्ध हो सकती थी और कुछ मात्रा में सिद्ध हुई भी किन्तु अधिकांश साक्ष्यों की वास्तविक प्राचीनता को पुरातात्त्विक सामग्री के संदर्भ में वैज्ञानिक आधारों पर कराए गए विश्लेषणों से निकले निष्कर्षों को भ्रमपूर्ण बनवाकर झुठलवा दिया।

भारत के साहित्य, इतिहास आदि में उन्होंने अनेक विकृतियाँ की हैं, उन में से कुछ को निम्नलिखित चार खण्डों में विभाजित करके यहाँ दिया जा रहा है –

प्राचीन ग्रन्थों/अभिलेखों में

पाश्चात्य विद्वानों/इतिहासज्ञों ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारतीय ग्रन्थों के मूल पाठों में कहीं अक्षरों में, कहीं शब्दों में और कहीं–कहीं वाक्यावली में अपनी मनमर्जी के परिवर्तन किए या करवाए। यही नहीं, वाक्यावली में परिवर्तन के साथ–साथ कहीं–कहीं प्रक्षिप्त अंश जोड़ दिए तो कहीं–कहीं मूल अंश लुप्त भी करा दिए, यथा–

(क) अक्षर परिवर्तन

विष्णु पुराण – इस पुराण में मौर्य वंश का राज्यकाल 337 वर्ष दिया गया था किन्तु सम्बंधित श्लोक 'त्र्यब्दशतंसप्तत्रिंशदुत्तरम्' में 'त्र्य' को बदल कर 'अ' अक्षर करके अर्थात 'त्र्यब्द' को 'अब्द' बनाकर 300 की जगह 100 करके वह काल 137 वर्ष का करवा दिया गया। (पं. कोटावेंकटचलम, 'दि प्लाट इन इण्डियन क्रोनोलोजी', पृ. 76)

आज के अधिकतर विद्वान 137 वर्ष को ही सही मानते हैं किन्तु कलिंग नरेश खारबेल के 'हाथी गुम्फा' अभिलेख में मौर्य वंश के संदर्भ में '165वें वर्ष' का स्पष्ट उल्लेख होने से मौर्य वंश के राज्यकाल को 137 वर्षों में समेट पाना कठिन है। विशेषकर उस स्थिति में जबकि 'हाथी गुम्फा' अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक माना जा चुका है।

'मत्स्य पुराण', 'एइहोल अभिलेख' आदि में भी ऐसा ही किया गया है।

(ख) शब्द परिवर्तन

पंचसिद्धान्तिका – प्रख्यात खगोल शास्त्री वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' में एक पद इस प्रकार से आया है –

सप्ताश्विवेद संख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्य ।।

अर्थात 427 शक काल के चैत्र मास की शुक्ल प्रतिपदा को सौम्य दिवस अर्थात सोम का पुत्र बुध–बुधवार–था, जबकि यवनपुर में अर्द्ध सूर्यास्त हो रहा था। उक्त पद में यद्यपि स्पष्ट रूप से सौम्य अर्थात सोम के पुत्र 'बुध' का उल्लेख है किन्तु गणना करने पर जब ज्ञात हुआ कि इस तिथि को बुधवार नहीं वरन् मंगलवार था तो कतिपय विद्वानों ने मूल पाठ में परिवर्तन करके 'सौम्य' को 'भौम' बनाकर काम चलाया। 'भौम' का अर्थ भूमि का पुत्र मंगल होता है किन्तु ऐसा करना ठीक नहीं रहा क्योंकि उक्त पद में उल्लिखित शक काल वर्तमान में प्रचलित शालिवाहन शक का वाचक नहीं है। वस्तुतः वह विक्रम पूर्व आरम्भ हुए शक सम्वत (शकनृपतिकाल) का वाचक है। इन दो शक कालों में यथास्थान सही अन्तर न करने से बहुत सी घटनाओं के 500 से अधिक वर्ष पीछे हो जाने पर कालगणना में भ्रम का पर्दा पड़ गया है।

ऐसे ही परिवर्तन 'चान्द्रव्याकरण', 'खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख' आदि में भी किए गए हैं।

(ग) अर्थ परिवर्तन

अलबेरूनी का यात्रा वृत्तान्त– अलबेरूनी ने अपने यात्रा वृत्तान्त में गुप्त सम्वत के प्रारम्भ होने के काल का उल्लेख करते हुए लिखा है कि गुप्त शासकों के समाप्त हो जाने पर 241 शक में उनकी स्मृति में गुप्त सम्वत प्रचलित हुआ था। इसका अंग्रेजी अनुवाद ठीक यही भाव प्रकट करता था किन्तु फ्लीट के मन्तव्य को यह अनुवाद पूरा नहीं करता था। अतः उसने बार–बार एक–एक शब्द का अनुवाद कराया। उसे वही अनुवाद चाहिए था जो उसके उद्देश्य की पूर्ति कर सके।

('अलबेरूनी का भारत', भाग 3, पृ. 9 अनुवादक संतराम बी. ए.)

(घ) पाठ परिवर्तन

पं. कोटावेंकटचलम के अनुसार सुधाकर द्विवेदी ने आर्य भट्ट के ग्रन्थ 'आर्यभट्टम्' के पद में छापते समय टी. एस. नारायण स्वामी के मना करने पर भी पाठ में परिवर्तन कर दिया, जो कि अवांछित था। ('भारतीय इतिहास पर दासता की कालिमा', पृ. 38)

(ङ) प्रक्षिप्त अंश जोड़ना

पार्जिटर तो स्व रचित एक पद पुराणों में घुसाना चाहते थे जबकि वे इसके अधिकारी नहीं थे। ('दि प्लाट इन इण्डियन क्रोनोलोजी', पृ. 89)

(च) पाठ विलुप्त करना

वेबर ने 1855 ई. में 'शतपथ ब्राह्मण' का भाष्य, जिसके साथ हरिस्वामी का भाष्य और द्विवेदी का गंगा भाष्य भी था, वर्लिन से प्रकाशित कराया था किन्तु उसमें वे श्लोक विलुप्त हैं जिनमें विक्रमादित्य की प्रशंसा की गई है जबकि वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा 1940 ई. में प्रकाशित इसी भाष्य में वे श्लोक विद्यमान हैं। यह पाठ जानबूझ कर विलुप्त कराए गए हैं क्योंकि विक्रमादित्य को भारत के इतिहास में दिखाना ही नहीं था।

('पं. कोटावेंकटचलम कृत क्रोनोलोजी ऑफ कश्मीर हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड', पृ. 203–208)

प्राचीन राजाओं तथा राजवंशों की संख्याओं तथा राज्यकालों में

भारत की प्राचीनता को कम करके आंकने की दृष्टि से पाश्चात्य इतिहासकारों ने न केवल भारतीय इतिहास में प्राचीन राजाओं की आयु को कम करके उनके राज्यकालों को ही कम करके आंका वरन अनेक राजवंशों के राजाओं की संख्या तथा राज्यकालों को भी पीछे धकेल दिया। सैंकड़ों–हजारों वर्ष पूर्व हुए राजाओं की संख्या और राज्यकालों को बिना ठोस आधार के आज मात्र कलम की नोक से कम कर देना या काट देना उचित नहीं कहा जा सकता।

मगध राजवंशावली – मगध साम्राज्य के विभिन्न राजवंशों और राजाओं की संख्या तथा राज्यकालों के लिए विलियम जोन्स ने अलग–अलग आधारों पर कई सूचियाँ तैयार कीं किन्तु सभी का ब्योरा अलग–अलग ही रहा। उसमें से किसी से भी उसकी सन्तुष्टि नहीं हुई। बार–बार सूचियों के परिवर्तन का मुख्य कारण 'येनकेन प्रकारेण' भारतीय इतिहास की प्राचीनता को कम करके आंकने का रहा।

पहली सूची में जोन्स द्वारा निर्धारित और भारतीय पुराणों के आधार पर निर्मित विभिन्न राजवंशों के राजाओं की संख्या और उनके राज्यकालों की तुलनात्मक स्थिति इस प्रकार रही –

राजवंश	**राजाओं की संख्या**		**राज्यकाल**	
	जोन्स	पुराण ग्रन्थ	जोन्स	पुराण ग्रन्थ
बार्हद्रथ	20	22	1000	1006
प्रद्योत	5	5	138	138
शिशुनाग	10	10	360	360
नन्द	1	9	100	100
मौर्य	10	12	137	316
शुंग	10	10	112	300
कण्व	4	4	345	85
आन्ध्र	30	32	456	506

दूसरी और तीसरी सूचियों में जो तुलनात्मक स्थिति बनी, वह तो और भी अधिक भ्रामक रही।

स्मिथ ने विभिन्न राजवंशों का राज्यकाल इस रूप में निर्धारित किया–

राजवंश	राज्यकाल*	
नन्द	45	(100)
मौर्य	137	(316)
शुंग	112	(300)

कण्व	45	(85)
आन्ध्र	289	(506)
गुप्त	149	(245)

✳ राम साठे कृत, 'डेट्स ऑफ बुद्धा', पृ. 69 के आधार पर।
कोष्ठकों में दी गई संख्याएँ पुराणों के अनुसार हैं।

कश्मीर और नेपाल की राजवंशावलियाँ – पाश्चात्य इतिहासकारों ने ऐसा उलट फेर भारत के मगध साम्राज्य के राजाओं के संदर्भ में ही नहीं, कश्मीर और नेपाल राज्यों की राजवंशावलियों में भी किया है। ताकि वे भी भारत की प्राचीनता को सिद्ध कर सकने में असमर्थ हो जाएँ।

प्राचीन सम्वतों में

अपनी कल्पित कालगणना को सही सिद्ध करने की दृष्टि से पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतीय सम्वतों को पूरी तरह से नकार कर उन्हें महत्त्वहीन तो बनाया ही, साथ ही प्राचीन काल से चलते आ रहे विभिन्न सम्वतों को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उनमें तरह–तरह की गड़बड़ियाँ भी कीं। इसके लिए उन्होंने तीन मार्ग अपनाए, यथा–

(क) प्राचीन सम्वतों में से युधिष्ठिर, कलि, सप्तर्षि और शूद्रक सम्वतों को अप्रामाणिक मानकर इनका कहीं भी प्रयोग न करके इन्हें नकार दिया जबकि प्राचीन काल में भारत में इनका प्रयोग सभी कार्यों में किया जाता रहा था।

(ख) प्राचीन सम्वतों में से मालवगण, शकनृपतिकाल और श्रीहर्ष सम्वतों की व्याख्या अपने ही ढंग से करके इन्हें तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत किया।

(ग) गुप्त–वल्लभी तथा गुप्त, विक्रमी तथा मालवगण और शालिवाहन तथा शक सम्वतों का नाम बदल कर एक को दूसरे सम्वतों में मिलाकर नई विकृतियों को जन्म दिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्वतों में की गई इन गड़बड़ियों के कारण भारतीय कालगणना में बहुत बड़ी मात्रा में बिगाड़ तो आया ही साथ ही इनके कारण अनेक ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गईं।

उक्त सम्वतों के अतिरिक्त भी भारत में पारद सम्वत, कल्चुरी सम्वत, भोज सम्वत, गांगेय सम्वत आदि आदि छोटे–छोटे अन्य अनेक सम्वत रहे हैं। आचार्य रामदेव ने ऐसे 43 सम्वतों की सूची दी हैं जिनका प्रयोग क्षेत्रीय स्तरों पर किया जाता था। ('भारतवर्ष का इतिहास', तृतीय खण्ड, प्रथम भाग, पृष्ठ 14–16) इन सभी सम्वतों के साथ अनेक ऐतिहासिक व्यक्तित्व, घटनाएँ और परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं। यदि इनका ठीक प्रकार से अध्ययन करके भारत का इतिहास लिखा जाता तो बहुत सी ऐसी ऐतिहासिक घुण्डियाँ खुल जातीं और विभिन्न ऐसी भ्रान्तियों का निर्माण ही न होता, जिनके लिए पाश्चात्य विद्वानों को बहुत सी मिथ्या कहानियों की कल्पना करनी पड़ी तथा जिनके कारण पूरा इतिहास ही बिगड़ गया। यह ठीक है कि थोड़ी बहुत अस्पष्टता इन सम्वतों में भी रही होगी किन्तु ज्यादा गड़बड़ियाँ तो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कुछ तो स्थिति की अज्ञानता और अस्पष्टता के कारण और कुछ जान–बूझकर पैदा की गईं ताकि इन्हें अप्रामाणिक बनाया जा सके।

पुरातात्त्विक सामग्रियों के निष्कर्षों में

प्राचीन इतिहास को जानने का एक प्रमुख आधार किसी भी स्थान विशेष से उत्खनन में प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री, यथा– ताम्रपत्र तथा अन्य प्रकार के अभिलेख, सिक्के, मोहरें तथा प्राचीन नगरों, किलों, मकानों, मृद्भाण्डों, मन्दिरों, मूर्तियों, स्तम्भों आदि के अवशेषों, को माना जाता है। ऐतिहासिक महत्त्व के क्रम की दृष्टि से इसमें से प्रथम स्थान ताम्रपत्रों एवं अन्य प्रकार के अभिलेखों तथा सिक्कों और मोहरों को और दूसरा स्थान पुरातन सामग्री के अवशेषों को दिया जाता है।

पुरातत्त्व–शास्त्र विज्ञान सम्मत है। इस शास्त्र के आधार पर किए गए अनुसंधानों से अनेक उल्लेखनीय ऐतिहासिक तथ्य उजागर होते रहे हैं किन्तु इस शास्त्र के आधार पर निष्कर्ष निकालने वाले विद्वान जब कुछ अधिक स्वतंत्रता से काम ले लेते हैं और उसके परिणामस्वरूप जो निष्कर्ष निकालते हैं, वे बड़े ही अस्वाभाविक, असहज और विचित्र होते हैं। भारतवर्ष के प्राचीन ऐतिहासिक परिदृश्य के संदर्भ में एक दो नहीं अनेक ऐसे निष्कर्ष निकाले गए हैं जो इस शास्त्र की विश्वसनीयता पर एक बड़ा प्रश्नचिन्ह् लगा देते हैं। प्रायः देखने में आता है कि किसी एक ही विषय के कोई से भी दो विद्वान कभी भी उस विषय के संदर्भ में निकाले गए पुरातात्त्विक निष्कर्षों पर एकमत नहीं हो पाते जिससे सही स्थिति को जानने का प्रयास करने पर निराशा ही हाथ लगती है। स्पष्ट है कि पुरातात्त्विक विद्वानों के निष्कर्षों में निश्चयात्मकता की कमी रहती आई है। यह कमी कभी–कभी तो भूलचूक के कारण होती रही है और कभी स्वार्थ–सिद्धि के निमित्त जानबूझ कर भी पैदा की जाती रही है।

पुरातात्त्विक सामग्रियों के वैज्ञानिक विश्लेषणों से निकले निष्कर्षों में विकृतियाँ– जहाँ तक पुरातात्त्विक सामग्री का सम्बन्ध है, उससे भी भारत की प्राचीनता सिद्ध हो सकती थी और कुछ मात्रा में हुई भी किन्तु अधिकांश सामग्री की वास्तविक प्राचीनता को पुरातात्त्विक सामग्री के वैज्ञानिक विश्लेषणों से निकले निष्कर्षों को भ्रमपूर्ण बनाकर नकार दिया।

भारत के संदर्भ में मिले प्राचीन अभिलेखों पर पुरातात्त्विक विद्वानों द्वारा जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उन्हें निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. कई प्रामाणिक अभिलेखों को जबरदस्ती अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया गया। इसके लिए 3 मार्ग अपनाए गए–

(क) पाश्चात्यों की अवधारणाओं के विपरीत जाने वाले अभिलेखों, सिक्कों आदि को सीधे ही अप्रामाणिक मान लिया गया, यथा– महाराजा जनमेजय और राजा शतधन्वा के ताम्रपत्र

(ख) पाश्चात्यों की मनमर्जी के विरुद्ध जाने वाले अभिलेखों, सिक्कों आदि की इवारत के अनुवादों की मनमानी व्याख्याएँ कीं या कराईं, यथा– खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख, तोरमाण और सिकन्दर–पुरु के युद्ध से सम्बंधित सिक्के

(ग) पाश्चात्यों ने अभिलेखों का वही अनुवाद सही माना जो उनकी मनमर्जी का रहा, यथा– अलबेरूनी के गुप्त सम्वत सम्बन्धी अंश के फ्लीट द्वारा कराए गए कई अनुवाद।

2. कई अप्रामाणिक अभिलेखों को जबरदस्ती प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया गया, यथा– मन्दसौर अभिलेख सं. 164 और 165, जो यशोधर्मन नाम के सम्राट से सम्बंधित बताए गए हैं। यह सम्राट भारत के इतिहास में आंधी की तरह आया और तूफान की तरह चला गया। न इसके माता–पिता का पता और न इसकी सन्तान का। लगता है इसका माँ–बाप, पुत्र, सभी फ्लीट ही रहा है।

❒

5. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं, कैसे ?

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने की प्रक्रिया में पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास को इतना बदल या बिगाड़ दिया कि वह अपने मूल रूप को ही खो बैठा। इसके लिए जहाँ कम्पनी सरकार का राजनीतिक स्वार्थ बहुत अंशों तक उत्तरदायी रहा, वहीं भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने के प्रारम्भिक दौर के पाश्चात्य लेखकों की शिक्षा–दीक्षा, रहन–सहन, खान–पान आदि का भारतीय परिवेश से एकदम भिन्न होना भी एक प्रमुख कारण रहा। उनके मन और मस्तिष्क पर अपने–अपने देश की मान्यताओं, धर्म की आस्थाओं और समाज की भावनाओं का प्रभाव पूरी तरह से छाया हुआ था। उनकी सोच एक निश्चित दिशा लिए हुए थी, जो कि भारतीय जीवन की मान्यताओं, भावनाओं, आस्थाओं और विश्वासों से एकदम अलग थी। व्यक्ति का लेखन–कार्य उसके विचारों का मूर्तरूप होता है। अतः भारतीय इतिहास का लेखन करते समय पाश्चात्य इतिहास लेखकों/विद्वानों की मान्यताएँ, भावनाएँ और आस्थाएँ उनके लेखन में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुई हैं।

पाश्चात्य विद्वानों को उनकी राजनीतिक दृष्टि से विजयी जाति के दर्प ने, सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठता की सोच ने, धार्मिक दृष्टि से ईसाइयत के सिद्धान्तों के समर्थन ने और सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से उच्चता के गर्व ने एक क्षण को भी अपनी मान्यताओं तथा भावनाओं से हटकर यह सोचने की स्थिति में नहीं आने दिया कि वे जिस देश, समाज और सभ्यता का इतिहास लिखने जा रहे हैं, वह उनसे एकदम भिन्न है। उसकी मान्यताएँ और भावनाएँ, उसके विचार और दर्शन, उनकी आस्थाएँ और विश्वास तथा उसके तौर–तरीके, उनके अपने देशों से मात्र भिन्न ही नहीं, कोसों–कोसों दूर भी हैं।

इस दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य जगत से आए सभी विद्वान ईसाई मत के अनुयायी थे। अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों तथा अपने देश और समाज के परिवेश के अनुसार हर बात को सोचना और तदनुसार लिखना उनकी अनिवार्यता थी। ईसाई धर्म की इस मान्यता के होते हुए कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण ईसा से 4004 वर्ष पूर्व किया था, उनके लिए यह विश्वास कर पाना कि भारतवर्ष का इतिहास लाखों–लाखों वर्ष प्राचीन हो सकता है, कठिन था, उनके पूर्वज ईसा पूर्व के वर्षों में जंगलों में पेड़ों की छाल पहनकर रहते थे तो वे कैसे मान सकते थे कि भारत में लाखों–लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य अत्यन्त विकसित स्थिति में रहता था ? वे मांसाहारी थे, अतः उनके लिए वह मान लेना कि आदिमानव मांसाहारी ही रहा होगा, स्वाभाविक ही था। इस स्थिति में वे यह कैसे मान सकते थे कि प्रारम्भिक मानव निरामिषभोजी रहा होगा ? कहने का भाव है कि भारतीय इतिहास की हर घटना, हर तथ्य और हर कथ्य को वे अपनी ही विचार–कसौटी पर कसकर उसके पक्ष में और विपक्ष में निर्णय लेने के लिए प्रतिबद्ध थे।

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों का मानसिक क्षितिज एक विशिष्ट प्रकार के सांचे में ढला हुआ था, जिसके फलस्वरूप उनकी समस्त सोच और शोध का दायरा एक संकीर्ण सीमा में आबद्ध हो गया था। परिणामतः उनके चिन्तन की दिशा और कल्पना की उड़ान उस दायरे से आगे बढ़ ही नहीं सकी और वे लोग एक प्रकार की मानसिक जड़ता से ग्रस्त हो गए। इसीलिए उनका शोध कार्य विविधता पूर्ण होते हुए भी अपने मूल में संकुचित और विकृत रहा। फलतः उन्होंने भारत के ऐतिहासिक कथ्यों को अमान्य करके उसके इतिहास–लेखन के क्षेत्र के चारों ओर अपनी–अपनी मान्यताओं, भावनाओं और आस्थाओं के साथ–साथ अपने निष्कर्षों का एक ऐसा चक्रब्यूह बना दिया कि उससे निकल पाना आगे आने वाले विद्वानों के लिए संभव ही नहीं हो सका, जो उसमें एक बार फंसा वह अभिमन्यु की तरह फंसकर ही रह गया। अधिकांश भारतीय इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता, भाषाविद्, साहित्यकार, चिन्तक और विवेचक भी इसी के शिकार हो गए। जबकि यह एक वास्तविकता है कि भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखते समय पाश्चात्य लेखकों ने पुष्ट से पुष्ट भारतीय तथ्यों को तो अपने बेबुनियाद तर्कों द्वारा काटा है किन्तु अपनी

और अपनों के द्वारा कही गई हर अपुष्ट से अपुष्ट, अनर्गल से अनर्गल और अस्वाभाविक से अस्वाभाविक बात को भी सही सिद्ध करने के लिए एड़ी–चोटी का जोर लगाया है। इसके लिए उन्होंने विज्ञानवाद, विकासवाद आदि न जाने कितने मिथ्या सिद्धान्तों और वादों की दुहाई दी है। इसके परिणामस्वरूप भारत के इतिहास, सभ्यता और संस्कृति में जो बिगाड़ पैदा हुआ, उसकी उन्होंने रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की।

उक्त आधारों पर भारत के इतिहास को कैसे–कैसे बिगाड़ा गया, इसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

भारत के प्राचीन विद्वानों को कालगणना–ज्ञान से अनभिज्ञ मानकर

पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की प्राचीन तिथियों का निर्धारण करते समय यह बात बार–बार दुहराई है कि प्राचीन काल में भारतीय विद्वानों के पास तिथिक्रम निर्धारित करने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। कई पाश्चात्य विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि प्राचीन काल में भारतीयों का इतिहास–ज्ञान ही 'शून्य' था। उन्हें तिथिक्रम का व्यवस्थित हिसाब रखना आता ही नहीं था। इसीलिए उन्हें सिकन्दर के भारत पर आक्रमण से पूर्व की विभिन्न घटनाओं के लिए भारतीय स्रोतों के आधार पर बनने वाली तिथियों को नकारना पड़ा किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। कारण ऐसा तो उन्होंने जानबूझकर किया था क्योंकि, उन्हें अपनी काल्पनिक काल–गणना को मान्यता जो दिलानी थी।

यदि भारत के प्राचीन विद्वान इतिहास–ज्ञान से शून्य होते तो प्राचीन काल से सम्बंधित जो ताम्रपत्र या शिलालेख आज मिलते हैं, वे तैयार ही नहीं कराए जाते। ऐसे अभिलेखों की उपस्थिति में भारत के प्राचीन विद्वानों पर पाश्चात्य विद्वानों का कालगणना–ज्ञान या तिथिक्रम की गणना से अनभिज्ञ होने के कारण उसका व्यवस्थित हिसाब न रख पाने का दोषारोपण बड़ा ही हास्यस्पद लगता है। विशेषकर इसलिए भी कि भारत में तो कालमान का एक शास्त्र ही पृथक से हैं, जिसमें एक सैकिंड के 30375वें भाग से कालगणना की व्यवस्था है। नक्षत्रों की गतियों के आधार पर निर्धारित भारतीय कालमान में परिवर्तन और अन्तर की बहुत ही कम संभावना रहती है। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों यथा– अथर्ववेद, विभिन्न पुराण, श्रीमद्‌भागवत, महाभारत आदि में काल–विभाजन और उसके गणनाक्रम पर बड़े विस्तार से विचार प्रकट किए गए हैं। कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं –

श्रीमद्‌भागवत– इसके 3.11.3 से 3.11.14 तक के श्लोकों में कालगणना पर विचार किया गया है, जिसके अनुसार भारतीय कालगणना में सबसे छोटी इकाई 'परमाणु' है। सूर्य की रश्मि परमाणु के भेदन में जितना समय लेती है, उसका नाम परमाणु है। परमाणु काल से आगे का काल–विभाजन इस प्रकार है –

2 परमाणु = 1 अणु, 3 अणु = 1 त्रसरेणु, 3 त्रसरेणु = 1 त्रुटि, 100 त्रुटि = 1 वेध, 3 वेध = 1 लव, 3 लव = 1 निमेष, 3 निमेष = 1 क्षण (एक क्षण में 1.6 सेकेंड अथवा 48600 परमाणु होते हैं), 5 क्षण = 1 काष्ठा, 15 काष्ठा = 1 लघु, 15 लघु = 1 नाड़िका (दण्ड), 2 नाड़िका = 1 मुहूर्त, 3 मुहूर्त = 1 प्रहर, 8 प्रहर = दिन–रात

इसी प्रकार से दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि का ज्ञान भी उस समय पूरी तरह से था।

महाभारत– इसके वन पर्व के 188वें अध्याय के 67वें श्लोक में सृष्टि–निर्माण, सृष्टि–प्रलय, युगों की वर्ष संख्या अर्थात कालगणना के संदर्भ में विचार किया गया है। इसमें लिखा है कि एक कल्प या एक हजार चतुर्युगी की समाप्ति पर आने वाले कलियुग के अन्त में सात सूर्य एक साथ उदित हो जाते हैं और तब ऊष्मा इतनी बढ़ जाती है कि पृथ्वी का सब जल सूख जाता है, आदि–आदि।

विभिन्न पुराण – पौराणिक कालगणना काल की भाँति अनन्त है। यह बहुत ही व्यापक है। इसके अनुसार कालगणना को दिन, रात, मास, वर्ष, युग, चतुर्युग, मन्वन्तर, कल्प, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की आयु आदि में विभाजित किया गया है। यही नहीं, इसमें मानव के दिन, मास आदि देवताओं के दिन, मास आदि तथा ब्रह्मा के दिन, मास आदि से भिन्न बताए गए हैं। एक कल्प में एक हजार चतुर्युगी होती हैं। एक हजार

चतुर्युगियों में 14 मन्वन्तर, यथा– (1) स्वायंभुव, (2) स्वारोचिष, (3) उत्तम (4) तामस (5) रैवत (6) चाक्षुष (7) वैवस्वत (8) सार्वणिक (9) दक्षसावर्णिक (10) ब्रह्मसावर्णिक (11) धर्मसावर्णिक (12) रुद्रसावर्णिक (13) देवसावर्णिक (14) इन्द्रसावर्णिक होते हैं। हर मन्वन्तर में 71 चतुर्युगी होती हैं। एक चतुर्युगी (सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग) में 12 हजार दिव्य या देव वर्ष होते हैं। दिव्य वर्षों के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के 3. 11.18 में 'दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः', मनुस्मृति के 1.71 में 'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम्', सूर्य सिद्धान्त के 1.13 में 'मनुष्यों का वर्ष देवताओं का दिन–रात होता है' उल्लेखनीय हैं। कई भारतीय विद्वान भी दिव्य या देव वर्ष की गणना को उचित नहीं ठहराते। वे युगों के वर्षों की गणना को सामान्य वर्ष गणना के रूप में लेते हैं किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि यदि ऐसा होता तो आज कलि सम्वत 5109 कैसे हो सकता था ? क्योंकि कलि की आयु तो 1200 वर्ष की ही बताई गई है। निश्चित ही यह (1200) दिव्य या देव वर्ष हैं।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सूर्य सिद्धान्त, मुहूर्त चिन्तामणि, शतपथ ब्राह्मण आदि में भी कालगणना पर विस्तार में विचार किया गया है। यही नहीं, पाराशर संहिता, कश्यप संहिता, भृगु संहिता, मय संहिता, पालकाप्य महापाठ, वायुपुराण, दिव्यावदान, समरांगण सूत्रधार, अर्थशास्त्र, (कौटिल्य), सुश्रुत और विष्णु धर्मोत्तरपुराण भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों में कालगणना के संदर्भ में चर्चा की गई है।

वस्तुतः भारत की कालगणना का विभाजन अत्यन्त प्राचीन काल में ही चालू हो चुका था। हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त ईंटों पर चित्रित चिन्हों के आधार पर रूस के विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि हड़प्पा सभ्यता के समय में भारतीय पंचांग–पद्धति पूर्ण विकसित रूप में थी।

जिस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही कालगणना–ज्ञान के सम्बन्ध में इतने अधिक विस्तार में जाकर विचार किया जाता रहा हो, वहाँ के विद्वानों के लिए यह कह देना कि वे कालगणना–ज्ञान से अपरिचित रहे, से अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है ? पं. भगवद्दत्त का स्पष्ट रूप में मानना है कि भारत की युगगणना को सही रूप में न समझ सकने के कारण ही यूरोपीय विद्वानों द्वारा अनेक भूलें हुई हैं। ('भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग 1, पृ. 209) फलतः इतिहास में तिथियों के संदर्भ में अनेक विसंगतियाँ आ गई हैं।

माइथोलॉजी की कल्पना कर

आज के विद्वान प्राचीन काल की उन बातों को, जिनकी पुष्टि के लिए उन्हें पुरातात्त्विक आदि प्रमाण नहीं मिलते, मात्र 'माइथोलॉजी' कहकर शान्त हो जाते हैं। वे उस बात की वास्तविकता को समझने के लिए उसकी गहराई में जाने का कष्ट नहीं करते। अंग्रेजी का 'माइथोलॉजी' शब्द 'मिथ' से बना है। मिथ का अर्थ है – जो घटना वास्तविक न हो अर्थात कल्पित या मनगढ़ंत ऐसा कथानक जिसमें लोकोत्तर व्यक्तियों, घटनाओं और कर्मों का सम्मिश्रण हो।

अंग्रेजों ने भारत की प्राचीन ज्ञान–राशि, जिसमें पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं, को 'मिथ' कहा है अर्थात उनकी दृष्टि में इन ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह सब कुछ कल्पित है, जबकि अनेक भारतीय विद्वानों का मानना है कि वे इन ग्रन्थों को सही ढंग से समझने में असमर्थ रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि उनका संस्कृत ज्ञान सतही था जबकि भारत का सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय संस्कृत में था और जिसे पढ़ने तथा समझने के लिए संस्कृत भाषा का उच्चस्तरीय ज्ञान अपेक्षित था। अधकचरे ज्ञान पर आधारित अध्ययन कभी भी पूर्णता की ओर नहीं ले जा सकता। वास्तव में तो पाश्चात्य विद्वानों ने 'मिथ' के अन्तर्गत वह सभी भारतीय ज्ञान–राशि सम्मिलित कर दी, जिसे समझने में वे असमर्थ रहे। इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण ही पर्याप्त होगा –

भारत के प्राचीन इतिहास में जलप्लावन की एक घटना का वर्णन आता है। इसमें बताया गया है कि इस जल प्रलय के समय 'मनु' ने अगली सृष्टि के निर्माण के लिए ऋषियों सहित धान्य, ओषधि आदि

आवश्यक सामग्री एक नाव में रखकर उसे एक ऊँचे स्थान पर ले जाकर प्रलय में नष्ट होने से बचा लिया था। यह प्रसंग बहुत कुछ इसी रूप में मिस्र, यूनान, दक्षिण–अमेरिका के कुछ देशों के प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। अन्तर मात्र यह है कि भारत का 'मनु' मिस्र में 'मेनस' और यूनान में 'नूह' हो गया किन्तु पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा इस ऐतिहासिक 'मनु' को 'मिथ' बना दिया गया। ऐसा कर देना उचित नहीं रहा।

इसी प्रकार के 'मिथों' के कारण भी भारतीय इतिहास के अनेक पृष्ठ आज खुलकर सामने आने से तो रह ही गए, साथ ही उसमें अनेक विकृतियाँ भी आ गईं।

विदेशी–साहित्य को अनावश्यक मान्यता देकर

पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखते समय यूनान, चीन, अरब आदि देशों के साहित्यिक ग्रन्थों, यात्रा–विवरणों, जनश्रुतियों आदि का पर्याप्त सहयोग लिया है, इनमें से यहाँ यूनान देश के साहित्य आदि पर ही विचार किया जा रहा है, कारण सर विलियम जोन्स ने भारतीय इतिहास–लेखन की प्रेरणा देते समय जिन तीन मानदण्डों का निर्धारण किया था, वे मुख्यतः यूनानी साहित्य पर आधारित थे।

यूनान से समय–समय पर अनेक विद्वान भारत आते रहे हैं और उन्होंने भारत के संदर्भ में अपने–अपने ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है किन्तु भारत के इतिहास को लिखते समय सर्वाधिक सहयोग मेगस्थनीज के ग्रन्थ से लिया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आए मेगस्थनीज ने भारत और अपने समय के भारतीय समाज के बारे में अपने संस्मरण 'इण्डिका' नामक एक ग्रन्थ में लिखे थे किन्तु उसके दो या तीन शताब्दी बाद ही हुए यूनानी लेखकों, यथा– स्ट्रेबो (Strabo) और एरियन (Arrian) को न तो 'इण्डिका' और न ही भारत के संदर्भ में किन्हीं अन्य प्राचीन लेखकों द्वारा लिखी पुस्तकें ही सुलभ हो सकी थीं। उन्हें यदि कुछ मिला था तो वह विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित वृत्तान्तों में उनके वे उद्धरण मात्र थे जो उन्हें भी पूर्व पुस्तकों के बचे हुए अंशों से ही सुलभ हो सके थे।

विभिन्न यूनानी लेखकों की पुस्तकों के वर्तमान में सुलभ विवरणों में से ऐसे कुछ विशेष उद्धरणों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें से कई को भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखते समय विभिन्न–विद्वानों द्वारा प्रयोग में लाया गया है किन्तु यूनानी विवरण चाहे भौगोलिक हो या जीव–जन्तुओं के, तत्कालीन निवासियों की कुछ विशेष जातियों के हों या कुछ विशिष्ट व्यक्तियों, स्थानों आदि, यथा– सिकन्दर, सेंड्रोकोट्टस, पाटलिपुत्र आदि के ब्योरों के, यूनानियों द्वारा लड़े गए युद्धों के वर्णन हों या अन्य, उन्हें पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि उनमें सत्यता है और वे गम्भीरतापूर्वक लिखे गए हैं। सभी वर्णन अविश्वसनीय लगते हैं किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि जिन विद्वानों को भारतीय पुराणों के वर्णन अविश्वसनीय लगे, उन्हें वे वर्णन प्रामाणिक कैसे लगे ? अतः उनकी निष्पक्षता विचारणीय है।

यूनानी ग्रन्थों के कतिपय उल्लेखनीय ब्योरे मैकक्रिण्डले की अंग्रेजी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद 'मेगस्थनीज का भारत विवरण' (अनुवादक–बाबू अवध बिहारीशरण) के आधार पर इस प्रकार हैं, यथा –

(क) **भारत की लम्बाई–चौड़ाई** –हर विद्वान की माप पृथक–पृथक हैं –

लम्बाई – मेगस्थनीज–16 हजार स्टेडिया, प्लिनी–22,800 स्टेडिया, डायोडोरस–28 हजार स्टेडिया, डायाइसेकस–कहीं 20 हजार और कहीं 30 हजार स्टेडिया, टालमी 16,800 स्टेडिया आदि और

चौड़ाई – मेगस्थनीज और ऐरेस्टनीज–16000 स्टेडिया, पैट्रोक्लीज–15,000 स्टेडिया, टीशियस – भारत एशिया के अवशिष्ट भाग से छोटा नहीं, ओनेसीक्राईटस– भारत संसार के तृतीयांश के तुल्य है आदि।

(ख) **भारत के जीव–जन्तु**

- बन्दर कुत्तों से बड़े होते हैं, वे उजले रंग के होते हैं किन्तु मुँह काला होता है। वे बड़े सीधे होते हैं।
- हिन्द महासागर की व्हेल मछलियाँ बड़े–बड़े हाथियों से भी बड़ी होती हैं।
- हाथी बड़े विशाल होते हैं। इनका जन्म 16 से 18 महीने में होता है। माता इन्हें 6 माह तक दूध पिलाती है।
- अजगर, इतने बड़े होते हैं कि वे हरिण और सांड को सम्पूर्ण निगल जाते हैं।
- सोना खोदकर निकालने वाली चाटियाँ लोमड़ी के आकार की होती हैं।

(ग) भारत के तत्कालीन निवासियों के ब्योरे – यहाँ के मनुष्य अपने कानों में सोते हैं, मनुष्यों के मुख नहीं होते, मनुष्यों की नाक नहीं होती, मनुष्यों की एक ही आँख होती है, मनुष्यों के बड़े लम्बे पैर होते हैं, मनुष्यों के अंगूठे पीछे की ओर फिरे रहते हैं आदि।

(घ) युद्धों के वर्णन – एक ही युद्ध के वर्णन अलग–अलग यूनानी लेखकों द्वारा पृथक–पृथक रूप में किए गए हैं, यथा–

- एरियन ने लिखा है कि ''इस युद्ध में भारतीयों के 20,000 से कुछ न्यून पदाति और 300 अश्वारोही मरे तथा सिकन्दर के 80 पदाति, 10 अश्वारोही धनुर्धारी, 20 संरक्षक अश्वारोही और लगभग 200 दूसरे अश्वारोही गिरे।''
- एक अन्य यूनानी लेखक ने लिखा है कि ''इस युद्ध में 12,000 से अधिक भारतीय मरे थे जबकि यूनानियों में से केवल 250 ही मरे थे।''
- एरियन ने पुरु के साथ हुए इस युद्ध के बारे में एक स्थान पर लिखा है कि ''इसमें विजय किसी की भी नहीं हुई। सिकन्दर थक कर विश्राम करने चला गया था। उसने पुरु को बुलाने के लिए अनेक आदमी भेजे थे। अन्त में ही पुरु सिकन्दर से उसके स्थान पर मिला था। ('भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग–2, पृ. 317)
- प्लूटार्क ने सिकन्दर के प्रमाण से लिखा है कि ''यह युद्ध हाथोंहाथ हुआ था। दिन का तब आठवाँ घण्टा था जब वे सर्वथा पराजित हुए।'' दूसरे शब्दों में युद्ध आठ घण्टे चला था। प्रश्न उठता है कि क्या विश्व विजयी 8 घण्टे के युद्ध में ही थक गया था ?

वीरेन्द्र कुमार गुप्त 'विष्णुगुप्त चाणक्य' की भूमिका के पृष्ठ 11 पर बताते हैं कि–

कहा जाता है कि पुरु युद्ध में पराजित हुआ था और बन्दी बनाकर सिकन्दर के समक्ष पेश किया गया था। लेकिन इस संदर्भ में भी यूनानी लेखकों के भिन्न–भिन्न मत हैं –

- जस्टिन और प्लुटार्क के अनुसार पुरु बन्दी बना लिया गया था।
- डायोडोरस का कहना है कि घायल पुरु सिकन्दर के कब्जे में आ गया था और उसने उपचार के लिए उसे भारतीयों को लौटा दिया था।
- कर्टियस का मत है कि घायल पुरु की वीरता से प्रभावित होकर सिकन्दर ने सन्धि का प्रस्ताव रखा।
- एरियन ने लिखा है कि घायल पुरु के साहस को देखकर सिकन्दर ने शान्ति दूत भेजा।
- कुछ विद्वानों का मत है कि युद्ध अनिर्णीत रहा और पुरु के दबाव के सामने सिकन्दर ने सन्धि का मार्ग उचित समझा।

पुरु के संदर्भ में उक्त मत सिकन्दर के मेसीडोनिया से झेलम तक की यात्रा तक के इतिहास से मेल नहीं खाते। इससे पूर्व उसने कहीं भी ऐसी उदारता नहीं दिखाई थी। उसने तो अपने अनेक सहयोगियों को उनकी छोटी सी भूल से रुष्ट होकर तड़पा–तड़पा कर मारा था। इस दृष्टि से उसका योद्धा बेसस, उसकी अपनी धाय का भाई क्लीटोस, पर्मीनियन आदि उल्लेखनीय हैं। वह एक अत्यन्त ही

क्रूर, नृशंस और अत्याचारी विजेता था। नगरों को जलाना, पराजितों को मौत के घाट उतारना, सैनिकों को रक्षा का वचन देकर धोखे से मरवा देना उसके स्वाभाविक कृत्य थे। ऐसा सिकन्दर पुरु के साथ अचानक ही इतना उदार कैसे बन गया कि जंजीरों में जकड़े पुरु को न केवल उसने छोड़ दिया वरन उसे बराबर बैठाकर राज्य वापस कर दिया, यह समझ में नहीं आता। ऐसा लगता है कि हारे हुए सिकन्दर का सम्मान और प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए यूनानी लेखकों ने यह सारा वाक्जाल रचा है। वास्तव में पुरु की हस्थि सेना ने यूनानियों का जिस भयंकर रूप से संहार किया था, उससे सिकन्दर और उसके सैनिक आतंकित हो उठे। यूनानी सेना का ऐसा विनाश उसके अस्तित्व के लिए चुनौती था। अतः उसने बाध्य होकर सन्धि की होगी।

पुरु के साथ हुए सिकन्दर के युद्ध के यूनानी लेखकों ने जिस प्रकार के वर्णन किए हैं, उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि यूनानी लेखक अपने गुण गाने में ज्यादा विश्वास रखते थे और उसमें माहिर भी ज्यादा थे।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यूनानियों ने अपनी पुस्तकों में विवरण लिखने में अतिशयोक्ति से काम लिया है। हर बात को बढ़ा–चढ़ा कर लिखा है। स्ट्रेबो, श्वानबेक आदि विदेशी विद्वानों ने तो कई स्थानों पर इस बात के संकेत दिए हैं कि मेगस्थनीज आदि प्राचीन यूनानी लेखकों के विवरण झूठे हैं, सुनी–सुनाई बातों पर आधारित है और अतिरंजित हैं। ऐसे विवरणों को अपनाने के कारण भी भारत के इतिहास में विकृतियाँ आई हैं।

विदेशी पर्यटकों के विवरणों को प्रामाणिक समझकर

भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं से प्रभावित होकर, भारतीय साहित्य की श्रेष्ठताओं से मोहित होकर और भारत की प्राचीन कला, यथा– मन्दिरों, मूर्तियों, चित्रों आदि से आकर्षित होकर समय–समय पर भारत की यात्रा के लिए आने वाले विदेशी पर्यटकों के यात्रा वृतान्तों पर भारत के इतिहास के संदर्भ में आधुनिक विदेशी और देशी इतिहासकारों ने भारत में विभिन्न स्रोतों से सुलभ सामग्री की तुलना में अधिक विश्वास किया है। जबकि यह बात जगजाहिर है कि मध्य काल में जो–जो भी विदेशी पर्यटक यहाँ आते रहे हैं, वे अपने एक उद्‌देश्य विशेष को लेकर ही आते रहे हैं और अपनी यात्रा पर्यन्त वे उसी की पूर्ति में लगे भी रहे हैं। हाँ, इस दौरान भारतीय इतिहास और परम्पराओं के विषय में इधर–उधर से उन्हें जो कुछ भी मिला, उसे अपनी स्मृति में संजो लिया और यात्रा–विवरण लिखते समय स्थान–स्थान पर उसे उल्लिखित कर दिया है।

इन विदेशी यात्रियों के वर्णनों के संदर्भ में विदेशी विद्वान ए. कनिंघम का यह कथन उल्लेखनीय है – "In this part of the pilgrim's travels, the narative is frequetly imperfect and erroneous and we must, therefore, trust to our own sagacity, both to supply his omissions and to correct his mistakes." ('एनशिएन्ट ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया' (1924) पृ. 371 – पं. कोटावेंकटचलम कृत 'क्रोनोलोजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड' पृ. 20 पर उद्धत)

वैसे तो भारत–भ्रमण के लिए अनेक देशों से यात्री आते रहे हैं। फिर भी भारत के इतिहास को आधुनिक रूप से लिखते समय मुख्यतः यूनानी और चीनी–यात्रियों के यात्रा–विवरणों को अधिक प्रमुखता दी गई है। उनके सम्बन्ध में स्थिति इस प्रकार है–

यूनानी यात्री

यूनान देश से आने वालों में अधिकतर तो सिकन्दर के आक्रमण के समय उसकी फौज के साथ आए थे या बाद में भारतीय राजाओं के दरबार में राजदूत के रूप में नियुक्त होकर आए थे। इनमें से मेगस्थनीज और डेमाकस ही अधिक प्रसिद्ध रहे। मेगस्थनीज की मूल पुस्तक 'इण्डिका' ही नहीं वरन उसके समकालीन अन्य इतिहासकारों की रचनाएँ भी काफी समय पूर्व ही नष्ट हो चुकी थीं। उनकी

फटी–पुरानी पुस्तकों से और अन्य लेखकों की रचनाओं से लिए गए उद्धरणों और जनता की स्मृति में शेष कथनों को लेकर जर्मन विद्वान श्वानबेक द्वारा लिखित पुस्तक के अनुवाद में दिए गए ब्योरों को देखकर ऐसा नहीं लगता कि वे किसी जिम्मेदार व्यक्ति द्वारा गम्भीरता से लिखे गए हैं। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

- मेगस्थनीज ने एक स्थान पर कहा है कि भारत में लड़कियाँ सात वर्ष की आयु में विवाह और सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो जाती हैं। ('मेगस्थनीज का भारत विवरण', पृ. 153–154)
- मेगस्थनीज ने यह भी कहा है कि काकेशस के निवासी सबके सामने स्त्रियों से संगम करते हैं और अपने सम्बन्धियों का मांस खाते हैं। इन दोनों प्रथाओं का उल्लेख हेरोडोटस ने भी किया है। ('मेगस्थनीज का भारत विवरण', पृ. 40)

आचार्य रामदेव ने अपने ग्रन्थ 'भारतवर्ष का इतिहास' के तृतीय खण्ड के अध्याय 5 में मेगस्थनीज के लेखन के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है। उनका कहना है कि मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यूनानी राजदूत के रूप में भारत आया था अतः उसका परिचय आचार्य चाणक्य से अवश्य ही रहा होगा क्योंकि वे सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरु और महामंत्री, दोनों ही थे। ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों की समसामयिकता को देखते हुए ऐसा सोच लेना भी स्वाभाविक ही है कि तत्कालीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में इन दोनों विद्वानों ने जो कुछ भी लिखा होगा, उसके ब्योरों में समानता होगी किन्तु मेगस्थनीज के विवरण चाणक्य के 'अर्थ शास्त्र' से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। यही नहीं, मेगस्थनीज के विवरणों में चाणक्य का नाम कहीं भी नहीं दिया गया है।

चीनी यात्री

भारत आने वाले चीनी यात्रियों की संख्या वैसे तो 100 मानी जाती है किन्तु भारतीय इतिहास–लेखन में तीन, यथा– फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिंग का ही सहयोग प्रमुख रूप से लिया गया है। इनके यात्रा विवरणों के अनुवाद हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में सुलभ हैं। इन अनुवादों में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं जो लेखकों के समय के भारत के इतिहास की दृष्टि से बड़े उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक रूप में भारत का इतिहास लिखने वालों ने इन तीनों यात्रियों द्वारा वर्णित अधिकांश बातों को सत्य मानकर उनके आधार पर भारत की विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण लिखे हैं किन्तु उनके वर्णनों में सभी कुछ सही और सत्य हैं, ऐसा नहीं है। उनके वर्णनों में ऐसी भी बातें मिलती हैं, जो अविश्वसनीय लगती हैं। ऐसा लगता है कि वे सब असावधानी में लिखी गई हैं। तीनों के विवरणों की स्थिति इस प्रकार है–

फाह्यान – यह भारत में जितने समय भी रहा, घूमता ही रहा। चीन लौटने पर इसने अपनी यात्रा के वर्णन लिपि–बद्ध कर दिए। श्री जगन्मोहन वर्मा द्वारा चीनी से हिन्दी में अनूदित पुस्तक में, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, कई जगह पर लिखा मिलता है कि "यह सुनी हुई बात पर आधारित है" आखिर यह 'सुनना' किस भाषा में हुआ था ? क्या स्थानीय भाषाओं का उसका ज्ञान इतना पुष्ट था कि सामान्य लोगों की बातों को उसने समझ लिया था ? किसी भी विदेशी के लिए इतनी जल्दी भारत जैसे बहुभाषी देश की विभिन्न भाषाओं को ज्ञान प्राप्त कर लेना एक असंभव कार्य था जबकि उसके द्वारा लिखे गए विवरणों में विभिन्न स्थानों के अलग–अलग लोगों की स्थिति का उल्लेख मिलता है। यदि ऐसा नहीं था तो उसने जो कुछ लिखा है क्या वह काल्पनिक नहीं है ? संभव है इसीलिए इन विवरणों के सम्बन्ध में कनिंघम को सन्देह हुआ है।

ह्वेनसांग – यह हर्षवर्धन के समय में भारत में बौद्ध धर्म के साहित्य का अध्ययन करने आया था और यहाँ 14 वर्ष तक रहा था। उसने भारत में दूर–दूर तक भ्रमण किया था। उसने भारत के बारे में चीनी भाषा में बहुत कुछ लिखा था। बील द्वारा किए गए उसके अंग्रेजी अनुवाद से ज्ञात होता है कि उसने

अपनी भाषा में भारत के समस्त प्रान्तों की स्थिति, रीति–रिवाज और सभ्यता, व्यवहार, नगरों और नदियों की लम्बाई–चौड़ाई तथा अनेक महापुरुषों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं लेकिन यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि उसने विभिन्न भारतीय भाषाओं का ज्ञान कब, कहाँ और कैसे पाया ? यह उल्लेख तो अवश्य मिलता है कि उसने नालन्दा विश्वविद्यालय में रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था किन्तु सामान्य लोगों से उसका वार्तालाप संस्कृत में तो हुआ नहीं होगा, तब वह उनके रीति–रिवाजों के बारे में इतनी बातें कैसे जान पाया होगा ?

भारत के आधुनिक रूप में लिखित इतिहास में अनेक ब्योरे और निष्कर्ष ह्वेनसांग के वर्णनों को प्रमाणिक मानकर उनके आधार पर दिए गए हैं। इसके लेखों के बारे में कनिंघम का कहना है कि यह मानना होगा कि ह्वेनसांग के लेखों में बहुत सी बातें इधर–उधर की कही गई बातों के आधार पर कल्पित हैं। इसलिए वे गलत और असम्बद्ध हैं। अतः उसने जो कुछ लिखा है, उसे एकदम सत्य और प्रामाणिक मान लेना उचित नहीं है। इसीलिए कनिंघम ने यह सलाह दी है कि इतिहास लिखते समय हमें उसमें उचित संशोधन करने होंगे। (पं. कोटावेंकटचलम कृत 'क्रोनोलोजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड', पृ. 20 पर उद्धृत)

इत्सिंग – इत्सिंग ने नालन्दा में 675 से 685 ई. तक रहकर लगभग दस वर्ष तक अध्ययन किया था। इस अवधि में उसने 400 ग्रन्थों का संकलन भी किया था। 685 ई. में उसने अपनी वापसी यात्रा शुरू की। मार्ग में रुकता हुआ वह 689 ई. के सातवें मास में कंग–फू पहुँचा। इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण पर एक ग्रन्थ लिखा था, जिसे 692 ई. में 'श्रीभोज' (सुमात्रा में पलम्बंग) से एक भिक्षुक के हाथ चीन भेज दिया था। जबकि वह स्वयं 695 ई. के ग्रीष्म काल में ही चीन वापस पहुँचा था।

अपने यात्रा–विवरण में उसने भी बहुत सी ऐसी बातें लिखी हैं जो इतिहास की कसौटी पर कसने पर सही नहीं लगतीं। इत्सिंग ने प्रसिद्ध विद्वान भर्तृहरि को अपने भारत पहुँचने से 40 वर्ष पूर्व हुआ माना है। जबकि 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि काफी समय पहले हुए हैं। इसी प्रकार उसके द्वारा उल्लिखित कई बौद्ध विद्वानों की तिथियों में भी अन्तर मिलता है। इन अन्तरों के संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इत्सिंग द्वारा 691–92 ई. में चीन भेजी गई सामग्री 280 वर्ष तक तो हस्तलिखित रूप में ही वहाँ पड़ी रही। 972 ई. तक वह मुद्रित नहीं हुई। फिर जो पुस्तक छपी उसमें और मूल सामग्री, जो इत्सिंग ने भेजी थी, में अन्तर रहा। ('इत्सिंग की भारत यात्रा', अनुवादक सन्तराम बी. ए. पृ. झ–30) ऐसा भी कहा जाता है कि इत्सिंग ने स्वयं अपनी मूल प्रति में चीन पहुँचने पर संशोधन कर दिए थे। जो पुस्तक स्वयं में ही प्रामाणिक नहीं रही उसके विवरण भारत के इतिहास–लेखन के लिए कितने प्रामाणिक हो सकते हैं, यह विचारणीय है।

अनुवादों के प्रमाण पर

पाश्चात्य इतिहासकारों तथा अन्य विधाओं के विद्वानों ने भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखे जाने से पूर्व ही उसके संदर्भ में विभिन्न निष्कर्ष निकाल कर उन पर कार्रवाई करने के लिए यथावश्यक निर्णय कर लिए थे। बाद में तो उन्होंने पूर्व निर्धारित निष्कर्षों को सही सिद्ध करने के उद्‌देश्य से अधिकतर ऐसे विदेशियों द्वारा लिखित पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवादों को अपने लेखन का आधार बनाया जिनसे उनके निष्कर्षों की पुष्टि होती हो। जहाँ तक विदेशी पुस्तकों के अनुवादों को अपने लेखन का आधार बनाने की बात है, वहाँ तक तो बात ठीक है किन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि क्या वे अनुवाद सही हैं ? क्या वे लेखक के मूल भावों को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त करने में समर्थ रहे हैं ? क्योंकि आज यह बड़ी मात्रा में देखने में आ रहा है कि अनुवादकों ने अनेक स्थानों पर मूल लेखकों की भावनाओं के साथ न्याय नहीं किया है। संभव है कि वे अनुवादक अंग्रेजों की तत्कालीन सत्ता के भारत के इतिहास को बदलने की योजना में सम्मिलित रहे हों और उन्होंने अनुवाद भी उसी दृष्टि से किया हो। अलबेरूनी के

'भारत के इतिहास' के गुप्त सम्वत से सम्बन्धित अंश का डॉ. फ्लीट द्वारा तीन–तीन बार अनुवाद मांगना यही प्रमाणित करता है कि उसको वही अनुवाद चाहिए था जो उसकी इच्छाओं को व्यक्त करने वाला हो। इस संदर्भ में श्री के. टी. तेलंग का कहना था कि भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने पूर्व निर्धारित मतों को सही सिद्ध करने के लिए हर प्रकार के प्रयास करके किलिंग्बर्थ की भाषा में "They dream what they desire and believe their own dreams – वे स्वैच्छिक स्वप्न ही देखते थे और उन्हीं पर विश्वास करते थे'' को सिद्ध किया है।

भारत के इतिहास–लेखन में यूनानी, चीनी, अरबी, फारसी, संस्कृत, पाली, तिब्बती आदि भाषाओं में लिखी गई पुस्तकों के अंग्रेजी में हुए अनुवादों का बड़ी मात्रा में उपयोग किया गया है। उनमें से कुछ के उदाहरण देकर यहाँ स्थिति स्पष्ट की जा रही है।

यूनानी भाषा – इसके संदर्भ में पूर्व पृष्ठों में विचार किया जा चुका है।

चीनी भाषा – चीनी भाषा से अंग्रेजी भाषा में किए गए अनुवादों से जिस–जिस प्रकार की गड़बड़ियाँ हुईं, उसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

एस. बील ने ह्वेनसांग की पुस्तक का अनुवाद करते हुए फुटनोट 33 का चीनी भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद इस प्रकार से किया है – "Lately, there was a king called An-Shu-fa-mo, who was distiguished for his learning and ingenuity" ('क्रोनोलोजी ऑफ नेपाल, हिस्ट्री रिकन्स्ट्रक्टेड', पृ. 28 पर उद्धृत)

बील के उक्त अनुवाद के आधार पर डॉ. बुहलर ने, जिसे भारत के साहित्यिक ग्रन्थ, ऐतिहासिक साक्ष्य, भाषायी प्रमाण आदि सब झूठे लगे हैं, अपने लालबुझक्कड़ी तर्कों के आधार पर अंशुवर्मन को 3000 कलि या 101 ई. पू. के स्थान पर ईसा की सातवीं शताब्दी में लाकर बिठा दिया। उक्त अनुवाद के संदर्भ में पं. कोटावेंकटचलनम का उक्त पुस्तक के पृष्ठ 29 पर कहना है –

"--- When Heun - Tsang visited Nepal he found frequently on the lips of the people the memorable name ....' he noted and recorded that there had been a great king of the name Amsuvarman and that he ..... but he never stated that Amsuvarman mentioned was the contemporary or was reigning at the time of his visit."

"In the first words of Beal's translation of Heun-Tsang's reference to Amsuvarman (or An-Shu-fa-mo) given in the footnote previously, lately there was a king called Amsuvarman. There is the implication that the 'Amsuvarman was not the contemporary of Heun-Tsang..."

यह गलती चीनी शब्द के अंग्रेजी अनुवाद 'लेटली' (Lately) के कारण हुई है। यदि लेटली (Lately) की जगह फॉरमरली (Formerly) होता तो यह गलती न होती। 'फॉरमली' का अर्थ है – 'इन फारमर टाइम्स' अर्थात पूर्व काल में या पहले, जबकि 'लेटली' का अर्थ है – 'हाल में'। इन दोनों शब्दों के अर्थ में समय का अन्तराल स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

'चीनी यात्री फाह्यान का यात्रा–विवरण' के अनुवाद में श्री जगन्मोहन वर्मा ने पुस्तक की भूमिका के पृष्ठ 3 पर लिखा है कि ''इस अनुवाद में अंग्रेजी अनुवाद से बहुत अन्तर देख पड़ेगा, क्योंकि मैंने अनुवाद को चीनी भाषा के मूल के अनुसार ही, जहाँ तक हो सका है, करने की चेष्टा की है'' अर्थात इन्हें अंग्रेजी का जो अनुवाद हुआ है, वह ठीक नहीं लगा। यदि उसमें गड़बड़ी नहीं होती तो वर्मा जी को ऐसा लिखने की आवश्यकता ही नहीं थी। उन्होंने पुस्तक के अन्दर एक दो नहीं, कई स्थानों पर शब्दों के अनुवाद का अन्तर तो बताया ही है, एक दो स्थानों पर ऐसे उल्लेख भी बताए हैं जो मूल लेख में थे ही नहीं और अनुवादक ने डाल दिए थे।

संस्कृत भाषा – यूनानी या चीनी भाषाओं से ही नहीं, संस्कृत से भी अंग्रेजी में अनुवाद करने में भारी भूलें होती रही हैं, यथा–

(1) संस्कृत से अंग्रेजी में किए गए अनुवाद की एक भूल का उल्लेख पं. भगवद्दत्त ने अपने 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास', भाग 2 (पृ. 316) में इस रूप में किया है–

"**अठारह शकों का काल** – पुराणों में शकों का राज्यकाल 380 वर्ष का लिखा है। पार्जिटर ने इस लेख के अनुवाद में राज्यकाल 183 वर्ष दिया है। यह अनुवाद असंगत है। शक शिलालेखों और मुद्राओं से शकों का राज्य 300 वर्षों से अधिक का प्रमाणित होता है।"

(2) इसी प्रकार से संस्कृत में लिखित 'श्रीविष्णुपुराण' और 'मत्स्यपुराण' का अंग्रेजी में अनुवाद करते समय भी पाश्चात्य विद्वानों ने मौर्य वंश के राज्यकाल में तीन सौ को एक सौ बनाने की भूल की है।

(3) गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित श्रीविष्णुपुराण के संस्कृत पाठ– 'अब्द शतंसप्तत्रिंशदुत्तरम्' का हिन्दी अनुवाद 173 पर दिया गया है। (गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित 14वाँ संस्करण (सं. 2050) चतुर्थ अंश, अध्याय 24, श्लोक 32, पृ. 351) जबकि अन्य स्थानों पर यह 317 या 137 वर्ष दिया गया है।

(4) मोनियर विल्सन ने अपने संस्कृत–अंग्रेजी कोश में 'कंचिदेक' शब्द का अर्थ महाभारत कालीन एक ग्राम बताया है। वास्तव में वह 'वेणीसंहार' नाटक के निम्नलिखित श्लोक को समझ नहीं सका –

इन्द्रप्रस्थं, वृकप्रस्थं, जयन्तं, वारणाव्रतम्
प्रयच्छचतुरो ग्रामान् कंचिदेकम् च पंचकम्

कौरव–पाण्डवों का युद्ध टालने के लिए श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से पाण्डवों के लिए 5 ग्राम ही दे देने को कहा था। पाँच ग्रामों में से इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ, जयन्त और वारणाव्रत इन चार ग्रामों के तो नाम उन्होंने गिना दिए थे और पाँचवां कोई सा भी अन्य गांव देने को कहा था। संस्कृत शब्द 'कंचिदेक' का अर्थ 'कोई सा भी एक' होता है। मोनियर ने इन्द्रप्रस्थ आदि नामों को देखकर इसे भी एक ग्राम का नाम मान लिया है।

उक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि अनुवाद करते समय छोटी–छोटी गलतियों के कारण इतिहास में भयंकर भूलें हो जाती हैं और भारतीय इतिहास में ऐसा हुआ है।

विकासवाद के अनुसरण पर

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि सृष्टि के आरम्भ में सभी प्राणी और वस्तुएँ अपनी प्रारम्भिक स्थिति में थीं। धीरे–धीरे ही उनका विकास हुआ है। यह बात सुनने में बड़ी सही, स्वाभाविक और वास्तविक लगती है लेकिन जब यह सिद्धान्त मानव के विकास पर लागू करके यह कहा जाता है कि मानव का पूर्वज वनमानुष था और उसका पूर्वज बन्दर था और इस प्रकार से जब आगे और आगे बढ़कर कीड़े–मकौड़े ही नहीं 'लिजलिजी' झिल्ली तक पहुँचा जाता है तो यह कल्पना बड़ी अटपटी सी लगती है। चार्ल्स डार्विन ने 1871 ई. में अपने 'दि डिसैण्ड ऑफ मैन' नामक ग्रन्थ में 'अमीबा' नाम से अति सूक्ष्म सजीव प्राणी से मनुष्य तक की योनियों के शरीर की समानता को देखकर एक जाति से दूसरी जाति के उद्भव की कल्पना कर डाली। जबकि ध्यान से देखने पर यह बात सही नहीं लगती क्योंकि भारतीय दृष्टि से सृष्टि चार प्रकार की होती है – अण्डज, पिण्डज (जरायुज), उद्भिज और स्वेदज – तथा हर प्रकार की सृष्टि का निर्माण और विकास उसके अपने–अपने जातीय बीजों में विभिन्न अणुओं के क्रम और उनके स्वतः स्वभाव के अनुसार होता है। एक प्रकार की सृष्टि का दूसरे प्रकार की सृष्टि में कोई दखल नहीं होता। इसे इस प्रकार से भी समझा जा सकता है कि एक गौ से दूसरी गौ और एक अश्व से दूसरा अश्व तो हो सकता है किन्तु गौ और अश्व के मेल से सन्तति उत्पन्न नहीं हो सकती। हाँ, अश्व और गधे अथवा अश्व और जेबरा, जो कि एक जातीय तत्त्व के हैं, के मेल से सन्तति हो सकती है, अर्थात कीट से कीट, पतंगे से पतंगे, पक्षी से पक्षी, पशु से पशु और मानव से मानव की ही उत्पत्ति होती है। कीट, वानर या वनमानुष से मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इनके परस्पर जातीय तत्त्व अथवा बीजों के अणुओं के क्रम अलग–अलग

हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक जाति के बीजों में विभिन्न अणुओं का एक निश्चित क्रम रहता है। यह क्रम बीज के स्वतः स्वभाव से अन्यत्त्व को प्राप्त नहीं होता।

विकासवाद के मत को स्वीकार कर लेने पर ही मनुष्य के अन्दर ज्ञान की उत्पत्ति के लिए भी एक क्रम की कल्पना की गई। तदनुसार यह मानने को बाध्य होना पड़ा कि प्रारम्भिक स्थिति में मानव बड़ा जंगली, बर्बर और ज्ञानविहीन था। उसे न रहना आता था और न भोजन करना। वह जंगलों में नदियों के किनारे रहता था और पशुओं को मारकर खाता था। अपनी सुरक्षा के लिए पत्थर के हथियारों का प्रयोग करता था। बाद में धीरे–धीरे धातुओं का प्रयोग करते–करते आगे बढ़कर ही वह आज की स्थिति में आया है।

दूसरी ओर भारत में यह मान्यता चली आ रही है कि सृष्टि के आरम्भ में ही ईश्वर ने विद्वान ऋषियों के हृदय में ईश्वरीय ज्ञान उत्पन्न किया और उसी ज्ञान को ऋषियों द्वारा वेदों के रूप में प्रकट/संकलित किया गया अर्थात प्रारम्भिक ऋषि बड़े ही ज्ञानवान थे। वर्तमान वैज्ञानिकों में प्रारम्भिक मानव के अज्ञानी होने की बात आई ही इसलिए कि उनको मानव जाति के पूरे इतिहास (जो कि भारत के अलावा कहीं और सुलभ ही नहीं है) का पूर्ण ज्ञान ही नहीं है और न ही वे उस ज्ञान को प्राप्त करने में कोई रुचि ही रखते हैं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि आज के अधिकांश वैज्ञानिक यूरोप के हैं और उन्होंने वहाँ की स्थिति के अनुरूप मानव–विकास की कल्पना की है। जबकि मानव सृष्टि का आरम्भ वहाँ हुआ ही नहीं है। उसका प्रारम्भ तो भारत में हुआ है एवं भारत की परम्परा के अनुसार यहाँ प्रारम्भिक काल में ही ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान मिला था। यह बात प्राचीन मिस्री और यूनानी साहित्य में भी मिलती है अर्थात इस सम्बन्ध में अकेले भारत का ही ऐसा मत नहीं है, अन्य देशों की भी प्राचीन काल में यही अवधारणा रही है। पं. भगवद्दत्त का मत है कि जिस प्रकार प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में विकासवाद का मत निराधार है, उसी प्रकार मानव के ज्ञान की दिन–प्रतिदिन उन्नति होने का मत भी निस्सार है। उनके अनुसार तो स्थिति इसके उलट है क्योंकि सत्यता, धर्मपालन, आयु, स्वास्थ्य, शक्ति, बुद्धि, स्मृति, आर्थिक स्थिति, सुख, राज्य व्यवस्था, भूमि की उर्वरा शक्ति तथा सस्यों का रस–वीर्य दिन–प्रतिदिन बढ़ने के स्थान पर न्यून हुए हैं। वर्तमान युग में पचास वर्ष के पश्चात जिस प्रकार मनुष्य निर्बल होना आरम्भ हो जाता है तथा उसकी मस्तिष्क–शक्ति किंचित–किंचित ह्रासोन्मुख होती जाती है, ठीक उसी प्रकार सत्युग के दीर्घकाल के पश्चात पृथ्वी से बने सब प्राणियों में ह्रास का युग आरम्भ हो जाता है। प्राणियों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में भी ह्रास हो रहा है।

विकासवाद के इस सिद्धान्त के कारण भारत के प्राचीन इतिहास को आधुनिक रूप में लिखते समय अनेक भ्रान्तियाँ पैदा करके उसे विकृत किया गया है।

पुरातात्त्विक सामग्री की भ्रामक समीक्षा को स्वीकार कर

प्राचीन इतिहास को जानने का एक प्रमुख आधार किसी भी स्थान विशेष से उत्खनन में प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री, यथा– ताम्रपत्र तथा अन्य प्रकार के अभिलेख, सिक्के, मोहरें और प्राचीन नगरों, किलों, मकानों, मृदभाण्डों, मन्दिरों, स्तम्भों आदि के अवशेष भी हैं।

उत्खननों से प्राप्त उक्त सामग्री के आधार पर पुरातात्त्विक लोग अपने शास्त्रीय विवेचन से उस स्थान से सम्बन्धित सभ्यता की प्राचीनता का आकलन करते हैं। उसी से पता चलता है कि वह सभ्यता कब पनपी थी, कहाँ–कहाँ फैली थी और किस स्तर की थी तथा उस कालखण्ड विशेष में समाज की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियाँ क्या और कैसी थीं ? भारत में 1920 ई. के बाद से निरन्तर होती आ रही पुरातात्त्विक खोजों में प्राप्त हुई सामग्रियों का ही यह परिणाम है कि आज भारत के प्राचीन इतिहास के अनेक ऐसे अज्ञात पृष्ठ, जिनके बारे में सामान्यतः आज लोगों को कुछ पता ही नहीं था, खुलकर सामने आते जा रहे हैं।

अब तक कुल 1400 स्थानों (971 भारत में, 428 पाक में और एक अफगानिस्तान) पर पुरातात्त्विक खुदाई हो चुकी है। उत्खननों से प्राप्त सामग्री के आधार पर स्थिति इस प्रकार ही है –

सिन्धु नद उपत्यका के उत्खनन – लाहौर और मुल्तान के बीच रावी नदी की एक पुरानी धारा के तट पर बसे हड़प्पा (जो प्राचीन भारत के मद्रदेश का भाग था) तथा सिन्ध प्रान्त (जिसका प्राचीन नाम सौवीर था) के लरकाना जिले के मोयां–जा–दड़ों अर्थात मरे हुओं की ढेरी या टीले में हुए उत्खननों से भारत की प्राचीनता और उसके मौलिक स्वरूप का विलक्षण प्रमाण मिला है। उत्खननों में मिले प्रमाणों के आधार पर ही वे इतिहासकार, जो भारत के सम्पूर्ण इतिहास की प्राचीनतम सीमा को 2500 ई. पू. तक की सीमा में बांध रहे थे, यह मानने को बाध्य हुए कि भारतीय सभ्यता निश्चय ही उससे कहीं अधिक प्राचीन है जितनी कि भारतीय इतिहास को आधुनिक रूप से लिखने वाले इतिहासकार मानते आ रहे हैं।

हड़प्पा सभ्यता, जिसे नगर सभ्यता माना गया और जिसका प्रारम्भिक काल 3250–2750 ई. पू. निश्चित किया गया था, के अवशेषों को देखकर इतिहासकारों को यह सोचने के लिए भी बाध्य होना पड़ा कि यह सभ्यता एकाएक तो पैदा हो नहीं गई होगी, कहीं न कहीं और किसी न किसी जगह ऐसा केन्द्र अवश्य रहा होगा जहाँ यह विकसित हुई होगी और जहाँ से आगे जाकर लोगों ने बस्तियों का निर्माण किया होगा।

हड़प्पा–पूर्व सभ्यता की खोज – इस दृष्टि से पाकिस्तान स्थित क्वेटाघाटी के किलीगुज मुहम्मद, रानी घुंडई, आम्री वस्ती, कोट दीजी और भारत में गंगा की घाटी में आलमगीरपुर, गुजरात में लोथल, रंगपुर, मोतीपीपली आदि, राजस्थान में कालीवंगन, पंजाब–हरियाणा में रोपड़ तथा मध्यप्रदेश में कई स्थानों की खुदाइयों में मिली सामग्री हड़प्पा पूर्व की ओर ले जा रही है। धोलावीरा की खुदाई में तो एक पूरा विकसित नगर मिला है, जिसमें पानी की उपलब्धी के लिए बांध आदि की तथा जल–निकासी के लिए नालियों की सुन्दर व्यवस्था के साथ भवन आदि बहुत ही परिष्कृत रूप में वैज्ञानिक ढंग से बने हुए मिले हैं। एक अभिलेख भी मिला है जो पढ़ा नहीं जा सका है। यही नहीं, वहाँ ऐसे चिह्न भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वहाँ का व्यापार उन्नत स्तर का रहा है।

सिन्धु घाटी सभ्यता सरस्वती नदी की घाटी में पनपी वैदिक सभ्यता का ही अंग है – भारत और पाकिस्तान के विभिन्न भागों में जैसे–जैसे नए उत्खननों में पुरानी सामग्री मिलती जा रही है, उसके आधार पर भारत के आधुनिक इतिहासकारों द्वारा निर्धारित भारतीय सभ्यता की प्राचीनता की सीमा 4500–5000 वर्ष से बढ़ते–बढ़ते 10,000 वर्ष तक पहुँच गई है। अब तो भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखकों को भी यह मानना पड़ रहा है कि वह सभ्यता जिसे एक समय सीमित क्षेत्र में केन्द्रित मानकर सिन्धु घाटी सभ्यता का नाम दिया गया था, वास्तव में बिलोचिस्तान, सिन्ध, पूरा पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, राजस्थान और गुजरात अर्थात लगभग पूरे भारत में ही फैली हुई थी।

पुरातत्त्व विज्ञान का कार्यक्षेत्र आलोच्य विषय पर विश्वसनीय सिद्धान्तों को बताकर सही निष्कर्ष निकालने के मार्ग को प्रशस्त करने तक ही है। यह नहीं कि वह उस विषय पर सिद्धान्तों की आड़ लेकर तरह–तरह की हैरानी, परेशानी या उलझनें पैदा करे। जबकि भारत के प्राचीन इतिहास के काल–निर्धारण के संदर्भ में ज्यादातर मामलों में ऐसा ही देखा गया है कि पुरातात्त्विकों द्वारा प्राचीन सामग्री का विश्लेषण करते समय एक से एक हैरानी परेशानी भरे उलझनपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए। इसीलिए जब उन्हें भारतीय कालगणना के आधार पर कसा जाता है तो वे सही नहीं लगते। उनमें बहुत बड़े परिमाण में अन्तर आता है।

तिथ्यांकन प्रणाली की भ्रामक समीक्षा को मानकर

आजकल पुरातात्त्विक साक्ष्यों की प्राचीनता का आकलन करने के लिए कार्बन तिथ्यांकन प्रणाली (Radio Carbon Dating Technique) का काफी उपयोग किया गया है। डॉ. सांकलिया आदि भारतीय

पुरातात्त्विकों को इस प्रणाली पर बड़ा विश्वास है। इस प्रणाली की खोज 1949 ई. में शिकागो विश्वविद्यालय के डॉ. विल्फोर्ड एफ. लिब्बी और उसके दो सहयोगियों ने की थी। इसके आविष्कर्ताओं ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि यह प्रणाली अभी (1952 ई. में) प्रयोगात्मक अवस्था में है और उसमें सुधार की संभावना हो सकती है। (सर मोर्टियर व्हीलर कृत 'आर्कियोलोजी फ्रॉम दि अर्थ' के हिन्दी अनुवाद 'पृथ्वी से पुरातत्व' पृ. 44–45 अनुवादक डॉ. हरिहर त्रिवेदी)

डॉ. रिचर्ड एडोंगेन्फेल्टोव ने 1963 ई. में रिवाइविल ऑफ ज्योफिजिक्स (जरनल) वाल्यूम–1, पृ. 51 पर डॉ. लिब्बी के इस प्रणाली से सम्बन्धित विचारों को बड़ा त्रुटिपूर्ण बताया है।

पुरातत्त्व संस्थान, लन्दन विश्वविद्यालय के सर मोर्टियर व्हीलर के अनुसार भी इस प्रणाली के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष असत्य हो सकते हैं।

भारतीय विद्वान डॉ. किरन कुमार थपलियाल ने भी इस प्रणाली को दोषपूर्ण माना है।

डॉ. रिचर्ड आदि के आक्षेप तो पुराने हो गए हैं परन्तु बाद के अनुसंधानों से भी यह प्रणाली दोषयुक्त सिद्ध होती है। श्री शशांक भूषण राय ने 'डेट ऑफ महाभारत वेटिल' के पृ. 5–6 पर इस प्रणाली के भारतीय विशेषज्ञ डी. पी. अग्रवाल के प्रमाण से लिखा है कि उत्खनन में प्राप्त एक द्रव्य की आयु जाँचने के लिए उसको तीन विभिन्न प्रयोगशालाओं में भेजा गया, जिनसे नौ अलग–अलग परिणामों में 2737 ई. पू. से 2058 ई. पू. तक का समय निर्धारित किया गया अर्थात कुल मिलाकर उस द्रव्य के काल निर्धारण के निष्कर्ष में 679 वर्ष का बड़ा अन्तर आ गया। एक ही द्रव्य के काल में इतने बड़े अन्तर को देखकर कार्बन 14 तिथ्यांकन प्रणाली को कितना प्रमाणिक माना जा सकता है, यह विचारणीय है।

श्री थपलियाल एवं श्री शुक्ला ने भी 'सिन्धु सभ्यता' के पृष्ठ 312 पर इस प्रणाली की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि एक बात तो स्पष्ट हो गई है कि अब विद्वज्जन कार्बन 14 विधि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इसे इतनी निश्चित रूप से सही तिथि बताने वाली विधि नहीं मानते जितनी कि शुरू–शुरू में, जब इस विधि की खोज हुई थी। विदेशों में अब वृक्ष कालानुक्रमणिका (डेन्डोक्रोनोलॉजी) विधि से प्राप्त और अपुवर्ण मृत्तिका (Clay Varve) परीक्षण से प्राप्त तिथियाँ और कार्बन 14 विधि में प्राप्त तिथियों में पर्याप्त अन्तर पाया गया है। मिस्र और मेसोपोटामिया की मध्य युग की अनेक सिद्ध ऐतिहासिक तिथियों का जब कार्बन 14 विधि में परीक्षण किया गया तो वे काफी समय बाद की निकलीं। कार्बन 14 विधि के अनुसार तृतीय राजवंश के जोसोर (Djoser) की जो तिथि निकली वह इसके उत्तराधिकारी हुनी (Huni) की लगभग निश्चित तिथि के 800 वर्ष बाद की रही। बहुत संभव है कि इन्हीं बातों को देखकर व्हीलर का यह मत बना हो कि "हो सकता है कि सिन्धु सभ्यता की कार्बन तिथ्यांकन प्रणाली के आधार पर निकाली गई तिथियों के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ हो।"

प्रो. लाल ने भी अयोध्या में किए गए पूर्व उत्खनन से प्राप्त सामग्री का इसी विधि से परीक्षण करके श्रीराम को श्रीकृष्ण के बाद में हुआ बताया था किन्तु 2003 में किए गए उत्खनन में मिली सामग्री के विश्लेषणों ने पूर्व निर्धारित तथ्यों को बदल दिया है। अब श्रीराम को श्रीकृष्ण से पूर्व हुआ माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्बन 14 तिथ्यांकन प्रणाली स्वयं में ही सन्देह के घेरे में बनी हुई है। ऐसी विधि के आधारों पर निकाले गए उक्त निष्कर्षों से सहमत कैसे हुआ जा सकता है ? अतः भारतीय इतिहास के संदर्भ में भी जो तिथियाँ कार्बन तिथ्यांकन प्रणाली से निकाली गई हैं वे और उनके आधार पर निकाले गए ऐतिहासिक निर्णय कहाँ तक माने जाने योग्य हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है ?

पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत के अधकचरे ज्ञान की श्रेष्ठता पर विश्वास कर

भारतीय संस्कृति का मूल आधार उसका प्राचीन वाङ्मय, जिसमें वेद, पुराण, शास्त्र, रामायण, महाभारत आदि सद्ग्रन्थ सम्मिलित हैं, संस्कृत भाषा में ही सुलभ हैं। देश में अनेक बार उथल–पुथल हुई, भाषाओं के कितने ही रूपान्तर हुए, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक परिवर्तन भी हुए, फिर भी यह (संस्कृत)

उसी रूप में विद्यमान रही। संस्कृत भाषा के कारण ही भारत के लोग प्राचीनतम काल से चली आ रही अपनी संस्कृति से अनन्य रूप से जुड़े रहे। देश की जनता को एकसूत्र में बांधने में संस्कृत भाषा का जो योगदान रहा है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

अंग्रेजों ने भी भारत की सत्ता की बागडोर संभालने के समय ही देश, धर्म और समाज में संस्कृत भाषा के प्रभाव को परिलक्षित करके संस्कृत को भाषा के रूप में महत्त्व दिया और उसके पठन–पाठन पर ध्यान दिया किन्तु कोई भी, चाहे कितना भी योग्य क्यों न हो, विदेशी भाषा में उतना पारंगत नहीं हो पाता, जितना कि अपनी भाषा में। फिर यूरोप में तो ऐसे ही लोगों ने, जिनका संस्कृत का ज्ञान अधिक परिपक्व नहीं था, संस्कृत की पुस्तकें लिखीं तथा उन्हीं पुस्तकों के आधार पर वहाँ के लोग संस्कृत में शिक्षित हुए। अधकचरे ज्ञान पर आधारित ग्रन्थों के माध्यम से पढ़े हुए व्यक्ति अपेक्षाकृत कम ही दक्ष रहते हैं और अदक्ष व्यक्ति लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचा सकता है। यही यूरोप के संस्कृत के विद्वानों ने किया। फिर चाहे वह मैक्समूलर हो या कर्नल टॉड, विंटर्निट्स हो या वेबर, रॉथ हो या कीथ सभी ने भारत के संस्कृत वाङ्मय को पूरी तरह से न समझ सकने के कारण अर्थ का अनर्थ ही किया। भारतीय इतिहास के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों के ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिन्होंने अपने अधकचरे ज्ञान के कारण न केवल संस्कृत के प्राचीन साहित्य के अमूल्य रत्नों को ही नष्ट किया है, वरन् भारतीय इतिहास की रचना में अपने भ्रष्ट उल्लेखों द्वारा बिगाड़ भी पैदा किया है। उदाहरण के लिए –

मैक्समूलर

कात्यायन कृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' की वृत्ति की भूमिका में षड्गुरु शिष्य का एक श्लोकार्द्ध इस रूप में मिलता है – **''स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजमानां च कारकः''** मैक्समूलर ने इसका अर्थ "The slokas of the smriti" करके अपने नोट में लिखा कि – ''भ्राजमान पद समझ में नहीं आता, यह पार्षद हो सकता है।'' जबकि वास्तविकता यह है कि वह इसका अर्थ ही नहीं समझ सका। इसका अर्थ है – ''कात्यायन, स्मृति का और भ्राज नामक श्लोकों का कर्ता था''।

मैक्समूलर के संस्कृत ज्ञान के संदर्भ में महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में कहा है कि उनका संस्कृत ज्ञान कितना और कैसा था यह इस मंत्र के उनके अर्थ से पता चलता है – **''युंजन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परिं तस्थुषः । रोचन्ते राचना दिवि ।''** मैक्समूलर ने इस मंत्र का अर्थ 'घोड़ा' किया है। परन्तु इसका ठीक अर्थ 'परमात्मा' है।

कर्नल टॉड

इनके संस्कृत ज्ञान के बारे में पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'राजस्थान' के पृष्ठ 26–27 में लिखा है कि – ''राजस्थान में रहने के कारण यहाँ की भाषा से तो वे परिचित हो गए थे परन्तु संस्कृत का ज्ञान अधिक न होने से संस्कृत पुस्तक, लेख और ताम्रपत्रों का सारांश तैयार करने में उनको अपने गुरु यति ज्ञानचन्द्र पर भरोसा रखना पड़ता था। ज्ञानचन्द्र कविता के प्रेमी थे। अतः वे कविता की भाषा के तो ज्ञाता थे परन्तु प्राचीन लेखों को भलीभाँति नहीं पढ़ सकते थे। पं. ज्ञानचन्द्र जी के संस्कृत ज्ञान पर आधारित रहने से टॉड साहब के लेखन में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गईं। उन्होंने जहाँ कई शब्दों के मनमाने अर्थ किए हैं, वहीं कई प्राचीन स्थानों के प्राचीन नाम कल्पित धर दिए हैं, जैसे– 'शील' का अर्थ 'पर्वत', 'कुकुत्थ' का अर्थ 'कुश सम्बंधी', 'बृहस्पति' का अर्थ 'बैल का मालिक' किया है तथा 'मंडोर' को 'मंदोदरी', 'जालोर' को 'जालीन्द्र', 'नरवर' को 'निरिसद्' बता दिया है।

स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत के अधकचरे ज्ञान के कारण भी भारतीय इतिहास में अनेक विकृतियाँ पैदा हुई हैं।

6. भारत के इतिहास में विकृतियाँ की गईं क्या–क्या ?

ईसा की 16वीं – 17वीं शताब्दी में व्यापारी बनकर आए अंग्रेज 18वीं शताब्दी के अन्त तक आते–आते 200 वर्ष के कालखण्ड में छल से, बल से और कूटनीति से भारतीय नरेशों की सत्ताएँ हथिया कर देश की प्रमुख राजशक्ति ही नहीं बन गए वरन वे देश की बागडोर संभालने में भी सफल हो गए। अपनी सत्ता को ऐतिहासिक दृष्टि से उचित ठहराने के लिए तत्कालीन कम्पनी सरकार ने भारत के इतिहास में विकृतियाँ लाने के लिए विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियों का निर्माण कराकर उनको विभिन्न स्थानों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रचारित कराया। यहाँ कुछ विकृतियों का उल्लेख 4 खण्डों, यथा– ऐतिहासिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और विविध में वर्गीकृत करके किया जा रहा है–

ऐतिहासिक

आर्य लोग भारत में बाहर से आए

अंग्रेजों ने भारत में विदेश से आकर की गई अपनी सत्ता की स्थापना को सही ठहराने के उद्‌देश्य से ही आर्यों के सम्बन्ध में, जो कि यहाँ के मूल निवासी थे, यह प्रचारित कराना शुरू कर दिया कि वे लोग भारत में बाहर से आए थे और उन्होंने भी बाहर से ही आकर यहाँ अपनी राज्यसत्ता स्थापित की थी। फिर उन्होंने आर्यों को ही नहीं, उनसे पूर्व आई नीग्रीटो, प्रोटो आस्ट्रोलायड, मंगोलाभ, द्रविड़ आदि विभिन्न जातियों को भी भारत के बाहर से आने वाली बताया।

यह ठीक है कि पाश्चात्य विद्वान और उनके अनुसरण में चलने वाले भारतीय इतिहासकार 'आर्यों' को भारत में बाहर से आने वाला भले ही मानते हों किन्तु भारत के किसी भी स्रोत से इस बात की पुष्टि नहीं होती। अनेक भारतीय विद्वान इसे मात्र एक भ्रान्ति से अधिक कुछ नहीं मानते। भारत के अधिकांश वैदिक विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि यहाँ की किसी भी प्राचीन साहित्यिक या अन्य प्रकार की रचना में कोई भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि आर्यों ने बाहर से आकर यहाँ राज्य सत्ता स्थापित की थी।

आर्यों के आदि देश, आर्य भाषा, आर्य सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन और प्रामाणिक साक्ष्य ऋग्वेद है। यह आर्यों का ही नहीं विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है किन्तु इसमें जितना भी भौगोलिक या सांस्कृतिक उल्लेख आता है वह सब इसी देश के परिवेश का है। 'ऋग्वेद' के नदी सूक्त में एक भी ऐसी नदी का नाम नहीं मिलता जो भारत के बाहर की हो। इसमें गंगा, सिन्धु, सरस्वती आदि का ही उल्लेख आता है। अतः इन नदियों से घिरी भूमि ही आर्यों का देश है और आर्य लोग यहीं के मूल निवासी हैं। यदि आर्य कहीं बाहर से आए होते तो कहीं तो उस भूमि अथवा परिवेश का कोई तो उल्लेख ऋग्वेद में मिलता।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आर्यों ने भारत को ही अपनी मातृभूमि, धर्मभूमि और कर्मभूमि मानकर जिस रूप में अपनाया है वैसा किसी भी पराए देश का निवासी उसको नहीं अपना सकता था। यहाँ यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यों ने सप्तसिन्धु के बाहर के निवासियों को बहुत ही घृणापूर्वक 'म्लेच्छ' कहकर पुकारा है – 'म्लेच्छ देश ततः परः।' (मनु.) क्या ऐसा कहने वाले स्वयं म्लेच्छ देश से आने वाले हो सकते हैं, ऐसा नहीं हो सकता।

दूसरी ओर भारत के इतिहास लेखन के क्षेत्र में 18वीं और 19वीं शताब्दी में आने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने अपने तर्कों के सामने, भले ही वे अनर्गल ही क्यों न रहे हों, इन बातों पर ध्यान नहीं दिया। उल्टे अपने कथ्यों से सभी को इस प्रकार का विश्वास दिलाने का पूरा प्रयास किया कि आर्य लोग भारत में

बाहर से ही आए थे जबकि भारत के संदर्भ में विश्व के भिन्न–भिन्न देशों में मिल रहे प्राचीन ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ब्योरों तथा उत्खननों में मिल रही पुरातात्विक सामग्रियों का जैसे–जैसे गहन अध्ययन होता जा रहा है, वैसे–वैसे विद्वान लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचते जा रहे हैं कि भारत ही आर्यों का मूल स्थान है और यहीं से आर्य बाहर गए थे। वे लोग बाहर से यहाँ नहीं आए थे।

इस दृष्टि से विदेशी विद्वानों में से यूनान के मेगस्थनीज, फ्राँस के लुई जैकालियट, इंग्लैण्ड के कर्जन, मुरो, एल्फिन्सटन आदि तथा देशी विद्वानों में से स्वामी विवेकानन्द, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आर्य भारत में विदेशी नहीं थे। दूसरी ओर मैक्समूलर, पोकॉक, जोन्स, कुक टेलर, नारायण पावगी, भजनसिंह आदि अनेक विदेशी और देशी विद्वानों का तो यह मानना रहा है कि आर्य विदेशों से भारत में नहीं आए वरन भारत से ही विदेशों में गए हैं।

जिस समय यूरोप के अधिकांश विद्वान और भारत के भी अनेक इतिहासकार यह मान रहे थे कि आर्य भारत में बाहर से आए, तभी 1900 ई. में पेरिस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द जी ने यह सिंह गर्जना की थी कि यह एक मूर्खतापूर्ण प्रलाप मात्र है कि भारत में आर्य बाहर से आए हैं –

"Where is your proof, guess work, then keep your fanciful guess to your self. In which veda, in which sutra do you find that Aryans have come into India from a foreign country ? What your European pundits say about the Aryan's swooping down from some foreign land, snatchng away the lands of aborigines and settling in India by exterminating them, is all pure non sense, foolish talk !"

आर्यों के भारत से विदेशों में जाने की दृष्टि से जब प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अध्ययन किया जाता है तो ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत के लोग एक–दो बार नहीं वरन बार–बार विदेश जाते रहे हैं। इनका प्रव्रजन कभी राजनीतिक कारणों से, यथा– ऋग्वेद और जेन्द अवेस्ता के अनुसार देवयुग में इन्द्र की सत्ता के भय से त्वष्टा का और विष्णुपुराण के अनुसार महाराजा सगर से युद्ध में हार जाने पर व्रात्य बना दिए जाने से शक, काम्बोज, पारद आदि क्षत्रिय राजाओं का और कभी सामाजिक कारणों, यथा– ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र के 50 पुत्रों के निष्कासन आदि से हुआ है। महाभारत युद्ध में मृत्यु के भय या हार जाने पर अपमानित महसूस करने पर आत्मग्लानी के और श्रीकृष्ण जी के स्वर्गारोहण से पूर्व हुए यादवी संघर्ष के फलस्वरूप भी बहुत से लोग भागकर देश के बाहर गए थे। यही नहीं, कभी–कभी स्वेच्छा से व्यापार, भ्रमण, धर्म प्रसार और उपनिवेश–निर्माण के हेतु भी भारतीयों ने प्रव्रजन किया है।

आर्यों ने भारत के मूल निवासियों को युद्धों में हराकर दास या दस्यु बनाया

अंग्रेजों द्वारा अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु 'बांटों और राज्य करो' की नीति के अनुसार फैलाई गई विभिन्न भ्रान्तियों में से ही यह भी एक थी। सर्वप्रथम यह विचार 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में प्रतिपादित किया गया था कि आर्य लोगों ने विदेशों से आकर भारत पर आक्रमण करके यहाँ के मूल निवासी द्रविड़, कोल, भील, सन्थाल आदि को अपनी शक्ति के बल पर पराजित करके जीता और अपमानित करके उन्हें दास या दस्यु बनाया।

आर्यों द्वारा बाहर से आकर स्थानीय जातियों को जीतने के प्रश्न पर भारत के प्रसिद्ध विधिवेत्ता डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि ऋग्वेद में 'दास' और 'दस्यु' को आर्यों का शत्रु अवश्य बताया गया है और उसमें ऐसे मंत्र भी आए हैं, जिसमें वैदिक ऋषियों ने अपने देवताओं से उनको मारने और नष्ट करने की प्रार्थनाएँ भी की हैं किन्तु इससे भारत में आर्यों के आक्रमण के पक्ष में निर्णय नहीं किया जा सकता। उन्होंने ऋग्वेद के आधार पर इस सम्बन्ध में तीन तर्क प्रस्तुत किए हैं–

(1) ऋग्वेद में आर्यों और दासों या दस्युओं के बीच युद्धों के संदर्भ नहीं मिलते। ऋग्वेद में 33 स्थानों पर 'युद्ध' शब्द आया है, जिनमें से केवल आठ स्थानों में उसका प्रयोग 'दस्यु' के विरोधी अर्थ में हुआ है और वह भी दोनों के मध्य किसी बड़े युद्ध को नहीं, बल्कि छिटपुट लड़ाइयों को ही दर्शाता है, जिनके आधार पर आर्यों की विजय–कथा को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

(2) दासों और आर्यों के बीच जो भी छिटपुट संघर्ष था, वह दोनों की आपसी सहमति से शान्तिपूर्ण ढंग से तय हो गया था। ऋग्वेद (6. 33. 3, 7. 83. 1, 8. 51. 9, 10. 102. 3) से यह भी स्पष्ट होता है कि दासों और आर्यों का एक ही शत्रु था और दोनों ने मिलकर अपने शत्रु के विरुद्ध युद्ध किया था।

(3) संघर्ष या विरोध का कारण जातीय नहीं था, अपितु उपासना भेद था। स्वयं ऋग्वेद से ही यह प्रमाणित होता है कि यह संघर्ष उपासना भेद के कारणों से उत्पन्न हुआ था, जाति के भेद के कारण नहीं क्योंकि, ऋग्वेद के मंत्र (1. 51. 8, 1. 32. 4, 4. 41. 2, 6. 14. 3) बताते हैं कि आर्यों और दासों या दस्युओं के उपासना से सम्बंधित आचार–विचार भिन्न–भिन्न थे।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने मत की पुष्टि में ऋग्वेद के मंत्र सं. 10.22.8 को विशेष रूप से उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है –

''हम दस्युओं के बीच में रहते हैं। वे लोग न तो यज्ञ करते हैं और न किसी में विश्वास ही करते हैं। इनके रीति–रिवाज भी पृथक हैं। वे मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं हैं। हे, शत्रु हंता ! तू उनका नाश कर।''

डॉ. साहब का कहना है कि ऐसे मंत्रों के सामने दासों या दस्युओं को आर्यों द्वारा विजित करने के सिद्धान्त को किसी प्रकार से नहीं माना जा सकता। अपने कथन की पुष्टि में डॉक्टर साहब ने श्री पी. टी. आयंगर के लेख का एक उद्धरण दिया है–

''मंत्रों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि उनमें जो आर्य, दास या दस्यु शब्द आए हैं, वे जाति–सूचक नहीं हैं, अपितु उनसे आस्था या उपासना का बोध होता है। वे शब्द मुख्य रूप से ऋग्वेद–संहिता में आए हैं। इनसे कहीं भी यह प्रमाणित नहीं होता कि जो जातियाँ अपने–आपको आर्य कहती थीं, वे हमलावर थीं और उन्होंने इस देश को विजित करके यहाँ के लोगों का नाश किया था ...''

दास या दस्यु कौन थे, इस संदर्भ में कुल्लूक नाम के एक विद्वान का यह कथन, जो उसने मनुस्मृति की टीका में लिखा है, उल्लेखनीय है– 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र जाति में, जो क्रियाहीनता के कारण जातिच्युत हुए हैं, वे चाहे म्लेच्छभाषी हों या आर्यभाषी, सभी दस्यु कहलाते हैं।

ऋग्वेद का यह मंत्र –

अकर्मादस्युः अमिनो अमन्तु अन्यव्रती अमानुषः ।
त्वं तस्य अभिन्न हन वधोदासस्य दम्भये ।।

कर्महीन, मननहीन, विरुद्धव्रती और मनुष्यता से हीन व्यक्ति को दस्यु बताकर उसके वध की आज्ञा देता है और 'दास' तथा 'दस्यु' को अभिन्नार्थी बताता है। यदि दस्यु का अर्थ आज की भाँति दास या सेवक होता तो ऐसी आज्ञा कभी नहीं दी जाती।

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है – ''तुम्हारे वंशधर भ्रष्ट होंगे। यही (भ्रष्ट या संस्कार विहीन) आन्ध्र, पुण्ड्र, शवर आदि उत्तर दिक् वासी अनेक जातियाँ हैं'' दूसरे शब्दों में सभ्यता और संस्कार विहीन लोगों की वंश परम्पराएँ चलीं और स्वतः ही अलग–अलग जातियाँ बन गईं, इन्हें किसी ने बनाया नहीं। आज की जरायमपेशा जातियों में ब्राह्मण भी हैं और राजपूत भी।

श्रीरामदास गौड़ कृत 'हिन्दुत्व' के पृष्ठ 772 पर दिए गए उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दस्यु या दास कैसे बने ? अतः आर्यों द्वारा भारत के मूल निवासियों को हराकर उन्हें दास या दस्यु बनाने की बात एक भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं।

भारत के मूल निवासी द्रविड़

अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में यह कोई जानता ही नहीं था कि द्रविड़ और आर्य दो अलग–अलग जातियाँ हैं। यह बात तो देश में अंग्रेजों के आने के बाद ही सामने लाई गई। अंग्रेजों को यह कहना भी इसलिए पड़ा क्योंकि वे आर्यों को भारत में हमलावर बनाकर लाए थे। हमलावर के लिए कोई हमला सहने वाला भी तो चाहिए था। बस, यहीं से मूल निवासी की कथा चलाई गई और इसे सही सिद्ध करने के उद्देश्य से 'द्रविड़' की कल्पना की गई। अन्यथा भारत के किसी भी साहित्यिक, धार्मिक या अन्य प्रकार के ग्रन्थ में इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि द्रविड़ और आर्य कहीं बाहर से आए थे। यदि थोड़ी देर के लिए इस बात को मान भी लिया जाए कि आर्यों ने विदेशों से आकर यहाँ के मूल निवासियों को युद्धों में हराया था तो पहले यह बताना होगा कि उन मूल निवासियों के समय इस देश का नाम क्या था ? क्योंकि जो भी व्यक्ति जहाँ रहते हैं, वे उस स्थान का नाम अवश्य रखते हैं। जबकि किसी भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ या तथाकथित मूल निवासियों की किसी परम्परा या मान्यता में ऐसे किसी भी नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ के पृष्ठ 25 पर रामधारी सिंह 'दिनकर' का कहना है कि जाति या रेस (Race) का सिद्धान्त भारत में अंग्रेजों के आने के बाद ही प्रचलित हुआ, इससे पूर्व इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि द्रविड़ और आर्य जाति के लोग एक दूसरे को विजातीय समझते थे। वस्तुतः द्रविड़ आर्यों के ही वंशज हैं। मैथिल, गौड़, कान्यकुब्ज आदि की तरह द्रविड़ शब्द भी यहाँ भौगोलिक अर्थ देने वाला है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि आर्यों के बाहर से आने वाली बात को प्रचारित करने वालों में मि. म्यूर, जो सबके अगुआ थे, को भी अन्त में निराश होकर यह स्वीकार करना पड़ा है कि – ''किसी भी प्राचीन पुस्तक या प्राचीन गाथा से यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती कि आर्य किसी अन्य देश से यहाँ आए।'' ('म्यूर संस्कृत टेक्स्ट बुक' भाग–2, पृष्ठ 523)

इस संदर्भ में टामस बरो नाम के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता का 'क्लारानडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित और ए. एल. भाषम द्वारा सम्पादित 'कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में छपे 'दि अर्ली आर्यन्स' में उद्धृत यह कथन उल्लेखनीय है कि– ''आर्यों के भारत पर आक्रमण का न कहीं इतिहास में उल्लेख मिलता है और न इसे पुरातात्त्विक आधारों पर सिद्ध किया जा सकता है'' ('आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृष्ठ–126 पर उद्धृत)

इस संदर्भ में रोमिला थापर का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि ''आर्यों के संदर्भ में बनी हमारी धारणाएँ कुछ भी क्यों न हों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों से बड़े पैमाने पर किसी आक्रमण या आव्रजन का कोई संकेत नहीं मिलता ...... गंगा की उपत्यका के पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह प्रकट नहीं होता कि यहाँ के पुराने निवासियों को कभी भागना या पराजित होना पड़ा था।'' ('आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृ. 113 पर उद्धृत)

अंग्रेजों ने इस बात को भी बड़े जोर से उछाला है कि 'आक्रान्ता आर्यों' ने द्रविड़ों के पूर्वजों पर नृशंस अत्याचार किए थे। वाशम, नीलकंठ शास्त्री आदि विद्वान यद्यपि अनेक बार यह लिख चुके हैं कि 'आर्य' और 'द्रविड़' शब्द नस्लवाद नहीं है फिर भी संस्कृत के अपने अधकचरे ज्ञान के आधार पर बने लेखक, साम्राज्यवादी प्रचारक और राजनीतिक स्वार्थ–सिद्धि को सर्वोपरि मानने वाले नेता इस विवाद को आँख मींच कर बढ़ावा देते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने द्रविड़ों की सभ्यता को आर्यों की सभ्यता से अलग बताने के लिए 'हड़प्पा कालीन सभ्यता' को एक बड़े सशक्त हथियार के रूप में लिया था। पहले तो उन्होंने हड़प्पाकालीन सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता बताया किन्तु जब विभिन्न विद्वानों की नई खोजों से उनका यह कथन असत्य हो गया तो वे कहने लगे कि हड़प्पा के लोग वर्तमान 'द्रविड़' नहीं, वे तो भूमध्य सागरीय 'द्रविड़' थे – अर्थात वे कुछ भी थे किन्तु आर्य नहीं थे। इस प्रकार की भ्रान्तियाँ जान–बूझकर फैलाई गई

थीं। जबकि सत्य तो यह है कि हड़प्पा की सभ्यता भी आर्य सभ्यता का ही अंश थी और आर्य सभ्यता वस्तुतः इससे भी हजारों–हजारों वर्ष पुरानी है।

इससे यही सिद्ध होता है कि आर्य और द्रविड़ अलग नहीं थे। जब अलग थे ही नहीं तो यह कहना कि भारत के मूल निवासी आर्य नहीं द्रविड़ थे, ठीक नहीं है। अब समय आ गया है कि आर्यों के आक्रमण और आर्य–द्रविड़ भिन्नता वाली इस मान्यता को विभिन्न नई पुरातात्विक खोजों और शोधपरक अध्ययनों के प्रकाश में मात्र राजनीतिक 'मिथ' मानकर त्याग दिया जाना चाहिए।

दासों या दस्युओं को आर्यों ने अनार्य बनाकर शूद्र की कोटि में डाला

भारतीय समाज को जाति, मत, क्षेत्र, भाषा आदि के आधार पर बांटकर उसकी एकात्मता छिन्न–भिन्न करने के लिए ही अंग्रेजी सत्ता ने यह भ्रान्ति फैलाई थी कि आर्यों ने बाहर से आकर यहाँ पर पहले से रह रहीं जातियों को युद्धों में हराकर दास या दस्यु बनाकर बाद में अपनी संस्कृति में दीक्षित कर उन्हें शूद्र की कोटि में डाल दिया। इस संदर्भ में कई प्रश्न उठते हैं कि क्या दास या दस्यु आर्येतर जातियाँ थीं, यदि नहीं, तो इन्हें अनार्य घोषित करने के पीछे अभिप्राय क्या था और क्या शूद्र कोटि भारतीय समाज में उस समय घृणित या अस्पृश्य अथवा छोटी मानी जाती थी ? इन प्रश्नों पर पृथक–पृथक विचार करना होगा।

क्या दास या दस्यु आर्येतर जातियाँ थीं ? – दास या दस्यु आर्येतर जातियाँ थीं या नहीं, यह जानने के लिए पहले यह देखना होगा कि आर्य वाङ्मय में दास या दस्यु शब्द का प्रयोग किस–किस अर्थ में अथवा किस अभिप्राय से किया गया है। आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के मंत्र संख्या 1. 5. 19 तथा 9. 41. 2 में दास या दस्यु शब्द का प्रयोग अयाज्ञिक और अव्रतों के लिए और मंत्र संख्या 1. 51. 8 में इसका प्रयोग शत्रु, चोर, डाकू अथवा धार्मिक क्रियाओं का विनाश करने वालों के लिए किया गया है। मनुस्मृति के 10.4 में कम्बोज आदि जातियों के पतित हो जाने वाले लोगों को दास या दस्यु कहा गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में निष्क्रिय व्यक्तियों को दास या दस्यु शब्द से अभिहित किया गया है। स्पष्ट है कि इन शब्दों का प्रयोग सभी जगह कुछ विशिष्ट प्रकार के लोगों के लिए ही किया गया है, किसी जाति विशेष के रूप में नहीं।

इनको अनार्य बनाने के पीछे क्या अभिप्राय रहा ? – आर्य वाङ्मय में स्थान–स्थान पर 'अनार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। वाल्मीकि रामायण के 2. 18. 31 में दशरथ की पत्नी कैकेई के लिए 'अनार्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में ''अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन'' के माध्यम से अकीर्तिकर कार्यों के लिए 'अनार्यजुष्ट' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के मंत्र संख्या 7. 6. 3 के अनुसार अव्रतियों, अयाज्ञिकों, दंभिओं, अपूज्यों और दूषित भाषा का प्रयोग करने वालों के लिए 'मृघ्रवाच' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात किसी भी आर्य ग्रन्थ में 'अनार्य' शब्द जातिवाचक के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। स्पष्ट है कि ऋग्वेद आदि में स्थान–स्थान पर आए अनार्य, दस्यु, कृष्णगर्भा, मृघ्रवाच आदि शब्द आर्यों से भिन्न जातियों के लिए न होकर आर्य कर्मों से च्युत व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं अर्थात 'अनार्य' शब्द जातिवाचक रूप में कहीं भी प्रयोग में नहीं लाया गया।

क्या शूद्र कोटि भारतीय समाज में उस समय घृणित या अस्पृश्य अथवा छोटी मानी जाती थी ? – प्राचीन काल में भारतीय समाज के चारों वर्ण यथा– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र परस्पर सहयोगी थे। एक वर्ण दूसरे में जा सकता था। उस समय वर्ण नहीं समाज में उसकी उपयोगिता कर्म की प्रमुखता से थी। भारत के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, जहाँ कहा गया हो कि शूद्र घृणित या अस्पृश्य या छोटा होता है या उच्च वर्ग बड़े होते हैं। समाज में सभी का समान महत्त्व था।

चारों वर्णों को समाज रूपी शरीर के चार प्रमुख अंग माना गया था, यथा– ब्राह्मण–सिर, क्षत्रिय–बाहु, वैश्य–उदर और शूद्र–चरण। चारों वर्णों की समान रूप से अपनी–अपनी उपयोगिता होते हुए भी शूद्र की उपयोगिता समाज के लिए सर्वाधिक रही है। समाज रूपी शरीर को चलाने, उसे गतिशील

बनाने और सभी कार्य व्यवहार सम्पन्न कराने का सम्पूर्ण भार वहन करने का कार्य पैरों का होता है। भारतीय समाज में शूद्रों के साथ छुआछूत या भेदभाव का व्यवहार, जैसा कि आजकल प्रचारित किया जाता है, प्राचीन काल में नहीं था। वैदिक साहित्य से तो यह भी प्रमाणित होता है कि 'शूद्र' मंत्रद्रष्टा ऋषि भी बन सकते थे। 'कवष ऐलुषु' दासीपुत्र अर्थात शूद्र थे किन्तु उनकी विद्वत्ता को परख कर ऋषियों ने उन्हें अपने में समा लिया था। वे ऋग्वेद की कई ऋचाओं के द्रष्टा थे। सत्यकाम जाबालि शूद्र होते हुए भी यजुर्वेद की एक शाखा के प्रवर्तक थे। (छान्दोगय 4.4) इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि "शूद्रो को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है", ऐसा कहने वाले झूठे हैं। कारण शूद्रों द्वारा वेद–पाठ की तो बात ही क्या वे तो वेद के मंत्र द्रष्टा भी थे। सामाजिक दृष्टि से यह भेदभाव तो मुख्यतः मुसलमानों और अंग्रेजों द्वारा अपने–अपने राज्यकालों में इस देश के समाज को तोड़ने के लिए पैदा किया गया था।

वस्तुतः वर्ण व्यवस्था समाज में अनुशासन लाने के लिए, उसकी उन्नति के लिए और उसके आर्थिक विकास के लिए बनाई गई थी।

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी रचना 'शूद्र पूर्वी कोण होते' के पृष्ठ 66 और 74–75 पर बड़े प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है कि शूद्र वर्ण समाज से भिन्न नहीं है अपितु क्षत्रियों का ही एक भेद है। संस्कृत साहित्य में सदाचरण या असदाचरण के आधार पर ही 'आर्य', 'अनार्य', 'दस्यु', 'दास' आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। वास्तव में 'आर्य' शब्द को सुसंस्कारों से सम्पन्न धर्माचरण करने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया गया है।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह भी अंग्रेजों द्वारा भारतीय समाज को तोड़ने के लिए फैलाई गई एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

यूरोपवासी आर्यवंशी

अंग्रेजी सत्ता के उद्‌देश्य की पूर्ति में लगे न केवल अंग्रेज विद्वान ही वरन उनसे प्रभावित और उनकी योजना में सहयोगी बने अन्य पाश्चात्य विद्वान, यथा– मैक्समूलर, वेबर, विंटर्निट्ज आदि भी शुरू–शुरू में भारत के इतिहास और साहित्य तथा सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता, महानता और श्रेष्ठता को नकारते ही रहे तथा भारत के प्रति बड़ी अनादर और तिरस्कार की भावना भी दिखाते रहे किन्तु जब उन्होंने देखा कि यूरोप के ही काउन्ट जार्नस्टर्जना, जैकालियट, हम्बोल्ट आदि विद्वानों ने भारतीय साहित्य, सभ्यता और संस्कृति की प्रभावी रूप में सराहना करनी शुरू कर दी है तो इन लेखकों ने इस डर से कि कहीं उनको दुराग्रही न मान लिया जाए, भारत की सराहना करनी शुरू कर दी। इन्होंने यह भी सोचा कि यदि हम यूँ ही भारतीय ज्ञान–भण्डार का निरादर करते रहे तो विश्व समाज में हमें अज्ञानी माना जाने लगेगा अतः इन्होंने भी भारत के गौरव, ज्ञान और गरिमा का बखान करना शुरू कर दिया। कारण यह रहा हो या अन्य कुछ, विचार परिवर्तन की दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों के लेखन में क्रमशः आने वाला अन्तर एकदम स्पष्ट रूप से दिखाई देता है –

पहली स्थिति में इन विद्वानों ने भारत की निन्दा की, दूसरी स्थिति में सराहना की और बाद में तीसरी स्थिति में गुण–ग्राहकता दिखाई। इनके विचार किस प्रकार बदले हैं, यह बात निम्नलिखित उद्धरणों से अधिक स्पष्ट हो जाती है –

पहली स्थिति : तिरस्कार और निन्दा

(1) "India has been conquered once but India must be conquered again and the second conquest should be attained by education. -- भारत को एक बार जीता जा चुका है, अवश्य ही इसे पुनः जीतना होगा, किन्तु इस बार शिक्षा के माध्यम से।"

('विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 95 पर उद्धृत)

(2) "Large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low, common place ....वेद की अधिकांश ऋचाएँ बचकानी, क्लिष्ट, निम्न और अति सामान्य है।''

('आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता', पृ. 21 पर उद्धृत)

दूसरी स्थिति : सराहना

''जिसने बर्कले का दर्शन, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों का समान रूप से अध्ययन किया है वह विश्वास के साथ कहेगा कि उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों के सामने वर्कले का दर्शन नितान्त अधूरा और बौना है।''

('विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 46 पर उद्धृत)

तीसरी स्थिति : गुणग्राहकता

(1) ''यूरोपीय राष्ट्रों के विचार, वाङ्मय और संस्कृति के स्रोत तीन ही रहे हैं– ग्रीस, रोम तथा इज्राइल। अतः उनका आध्यात्मिक जीवन अधूरा है, संकीर्ण है। यदि उसे परिपूर्ण, भव्य, दिव्य और मानवीय बनाना है तो मेरे विचार में भाग्यशाली भरतखण्ड का ही आधार लेना पड़ेगा।''

('विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 51 पर उद्धृत)

(2) ''आचार्य (शंकर) भाष्य का जब तक किसी यूरोपीय भाषा में सुचारु अनुवाद नहीं हो जाता तब तक दर्शन का इतिहास पूरा हो ही नहीं सकता। भाष्य की महिमा गाते हुए साक्षात सरस्वती भी थक जाएगी।

('विश्वव्यापिनी संस्कृति', पृ. 46–47 पर उद्धृत)

किन्तु इस तीसरी स्थिति के बावजूद भी यूरोपीय लेखक यह स्वीकार करने में असमर्थ रहे कि यूरोप वाले आर्यों (भारतीयों) से निचले स्तर पर रहे थे। अतः उन्होंने संस्कृत और लैटिन आदि भाषाओं के शब्दों की समानता को लेकर ''एक ही भाषा के बोलने वाले एक ही स्थान पर रहे होंगे'' के सिद्धान्त की स्थापना की और इस प्रकार आर्यों से यूरोप वालों का रक्त सम्बन्ध स्थापित कर दिया। मैक्समूलर आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने पहले तो आर्यों को एक जाति विशेष बनाया और धीरे–धीरे एक के बाद एक कई ऐसे यूरोपीय विद्वान आए जिन्होंने आर्यों के गुणों से आकृष्ट होकर यूरोपीय लोगों को इस जाति विशेष से ही जोड़ दिया। इस संदर्भ में मैक्समूलर का कहना है कि–

''आर्यवर्त्त का प्राचीन देश ही गोरी जाति का उत्पत्ति स्थान है। भारत भूमि ही मानव जाति की माता और विश्व की समस्त परम्पराओं का उद्‌गम–स्थल है। उत्तर भारत से ही आर्यों का अभियान फारस की ओर गया था।'' ('इण्डिया, व्हाट इट कैन टीच अस')

मैक्समूलर ने यह भी कहा है कि – ''यह निश्चित हो चुका है कि हम सब पूर्व की ओर से आए हैं। इतना ही नहीं हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बातें हैं, सबकी सब हमें पूर्व से मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब हम पूर्व की ओर जाएं तब हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।

('इण्डिया, व्हाट इट कैन टीच अस', पृ. 29)

कर्जन तो स्पष्ट रूप से कहता है कि– ''गोरी जाति वालों का उद्‌गम स्थान भारत ही है।''

(जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', खण्ड 16, पृ. 172–200)

भारतीय मनीषी तो चाहे प्राचीन काल के रहे हों या अर्वाचीन काल के, यही मानते हैं कि आर्य कोई जाति विशेष नहीं है।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों सहित समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य में जहाँ भी 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ 'श्रेष्ठ व्यक्ति' के लिए ही किया गया है। इस श्रेष्ठत्त्व से भारतवासी ही आवेष्टित क्यों हों यूरोप वाले क्यों नहीं, अतः उन्होंने इस श्रेष्ठत्त्व से यूरोपवालों को महिमामंडित करने का सुअवसर हाथ से खोना नहीं चाहा और उन्हें भी आर्यवंशी बना दिया।

इस संदर्भ में जार्ज ग्रियर्सन का अपनी रिपोर्ट 'ऑन दि लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' में उल्लिखित यह कथन दर्शनीय है – "भारतीय मानव स्कन्ध में उत्पन्न भारत–तूरानी अपने को वास्तविक अर्थ में साधिकार 'आर्य' कह सकते हैं किन्तु हम अंग्रेजों को अपने को 'आर्य' कहने का अधिकार नहीं हैं।

भारत की सभ्यता विश्व में सर्वाधिक प्राचीन नहीं

भारत के पुराण तथा अन्य पुरातन साहित्य में स्थान–स्थान पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारत में मानव सभ्यता का जन्म सृष्टि–निर्माण के लगभग साथ–साथ ही हो चुका था और धीरे–धीरे उसका विस्तार विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी होता रहा अर्थात भारतीय सभ्यता विश्व में सर्वाधिक प्राचीन तो है ही वह विश्वव्यापिनी भी रही है किन्तु आज का इतिहासकार इस तथ्य से सहमत नहीं है। वह तो इसे 2500 से 3000 वर्ष ई. पू. के बीच की मानता रहा है। साथ ही वह भारतीयों को घर घुस्सु और ज्ञान–विज्ञान से विहीन भी मानता रहा है किन्तु भारत में और उसकी वर्तमान सीमाओं के बाहर विभिन्न स्थानों पर हो रहे उत्खननों में मिली सामग्री के पुरातात्विक विज्ञान के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष उसे प्राचीन से प्राचीनतर बनाते जा रहे हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खोजों से वह 4000 ई. पू. तक पहुँच ही चुकी थी। मोतीहारी (मध्यप्रदेश) लोथल और रंगपुर (गुजरात) बहादुराबाद और आलमगीरपुर (उत्तरप्रदेश) आदि में हुए उत्खननों में मिली सामग्री उसे 5000 ई. पू. से पुरानी घोषित कर रही है। तिथ्यांकन की कार्बन और दूसरी प्रणालियाँ इस काल सीमा को आगे से आगे ले जा रही हैं। इस संदर्भ में बिलोचिस्तान के मेहरगढ़ तथा भारत के धौलावीरा आदि की खुराइयाँ भी उल्लेखनीय हैं, जो भारतीय सभ्यता को 10000 ई. पूर्व की सिद्ध कर रही है। गुजरात के पास खम्भात की खाड़ी में पानी के नीचे मिले नगर के अवशेष इसे 10000 ई. पू. से भी प्राचीन बताने जा रहे हैं।

दूसरी ओर प्रो. डब्ल्यु ड्रेपर के कथन के अनुसार स्काटलैण्ड में 1.40 लाख वर्ष पूर्व के प्राचीन हाथियों आदि जानवरों के अवशेषों के साथ मानव की हड्डियाँ भी मिली हैं। केन्या के संग्रहालय के डॉ. लीके ने 1.70 लाख वर्ष पूर्व विद्यमान मानव का अस्थि पिंजर खोज निकाला है। अमेरिका के येल विद्यालय के प्रो. इ. एल. साइमन्स ने ऐसे मनुष्य के जबड़े की अस्थियों का पता लगाया है जो 1.40 करोड़ वर्ष पुरानी हैं।

ईसाई धर्म के अनुसार यह भले ही माना जा रहा हो कि मानव सृष्टि का निर्माण कुछ हजार वर्ष पूर्व ही हुआ है किन्तु आज की नई–नई वैज्ञानिक खोजें इस काल को लाखों–लाखों वर्ष पूर्व तक ले जा रही हैं। पाश्चात्य जगत के एक–दो नहीं, अनेक विद्वानों का मानना है कि सृष्टि का प्रथम मानव भारत में ही पैदा हुआ है कारण वहाँ की जलवायु ही मानव की उत्पत्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल रही है। भारतीय पुरातन साहित्य में उल्लिखित इस तथ्य की कि भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता है, पुष्टि यहाँ पुरातत्त्व विज्ञान द्वारा की जा रही है।

आदि मानव जंगली और मांसाहारी

मानव जाति का इतिहास लिखते समय आधुनिक इतिहासकारों, विशेषकर पाश्चात्यों के सामने जहाँ डार्बिन जैसे वैज्ञानिकों का मानव जीवन के विकास को दर्शाने वाले 'विकासवाद' का सिद्धान्त था, जिसके अनुसार मानव का पूर्वज वनमानुष था और उसका पूर्वज बन्दर था और इस प्रकार पूर्वजों की गाथा को आगे बढ़ाकर कीड़े–मकौड़े ही नहीं एक लिजलिजी झिल्ली तक पहुँचा दिया जाता है, वहीं उनके सामने इंग्लैण्ड आदि देशों के पूर्वजों के जीवनयापन का ढंग भी था, जिसमें वे लोग जंगलों में रहते थे, पेड़ों पर सोते थे, पशुओं का शिकार करते थे और उनके मांस आदि का आहार करते थे। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा यह मान लिया जाना अत्यन्त स्वाभाविक था कि आदि काल में मानव अत्यन्त ही अविकसित स्थिति में था। उसे न तो ठीक प्रकार से रहना आता था और न ही खाना–पीना। वह खुले आकाश के नीचे नदियों के किनारे अथवा पहाड़ों की गुफाओं में रहता था और आखेट में मारे पशु–पक्षियों के मांस से वह अपने

जीवन का निर्वाह करता था। दूसरे शब्दों में इन इतिहासकारों की दृष्टि में आदि मानव जंगली और मांसाहारी था।

वस्तुतः उक्त निष्कर्ष को निकालते समय पाश्चात्य इतिहासकारों के समक्ष यूरोप के विभिन्न देशों के प्रारम्भिक मानवों के जीवन का चित्र था। जबकि मानव सृष्टि का प्रारम्भ इस क्षेत्र में हुआ ही नहीं था। आज विश्व के बड़े–बड़े विद्वान इस बात पर सहमत हो चुके हैं कि आदि काल में मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव भारत में ही हुआ था। इस संदर्भ में फ्राँस के क्रूजर और जैकालिट, अमेरिका के डॉ. डान, इंग्लैण्ड के सर वाल्टर रेले के साथ–साथ इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड, भू–वैज्ञानिक, मेडलीकट, ब्लम्फर्ड आदि के कथन भी उल्लेखनीय हैं।

इस विषय पर प्राचीन वाङ्मय, चाहे वह भारत का हो या विदेशों का, जब अध्ययन किया जाता है तो आदि मानव के मांसाहारी होने की बात की पुष्टि नहीं हो पाती क्योंकि उसमें प्रारम्भिक मानव के भोजन के सम्बन्ध में जो तथ्य दिए गए हैं, उनसे यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है कि उस काल में मानव विशुद्ध निरामिष भोजी था।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय

भारत के प्राचीन वाङ्मय में वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण, चरकसंहिता आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें इस संदर्भ में आए ब्योरे इस प्रकार हैं –

ऋग्वेद – इस वेद में यज्ञ के संदर्भ में जितने भी शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से किसी के भी अर्थ का पशुवध या हिंसा से दूर तक का भी सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत 'अध्वर' जैसे शब्दों से अहिंसा की ध्वनि निकलती है। यज्ञों में 'अध्वर्यू' की नियुक्ति अहिंसा के उद्देश्य से ही की जाती है। वह इस बात का ध्यान रखता है कि यज्ञ में कायिक, वाचिक और मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। यही नहीं, ऋग्वेद के मंत्र 10.87.16 में तो मांसभक्षी का सर कुचल देने की बात भी कही गई है।

यजुर्वेद – इस वेद में पशु हत्या का निषेध करते हुए उनके पालन पर जोर दिया गया है। जब उनकी हत्या ही वर्जित है तो उनको खाने के लिए कैसे स्वीकारा जा सकता है ?

अथर्ववेद – इस वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मांसाहारी, शराबी और व्यभिचारी एक समान ही मार डालने योग्य हैं। इसी वेद के मंत्र सं. 9.6.9 में तो और भी स्पष्ट रूप में कहा गया है – 'गाय का दूध, दही, घी खाने योग्य है मांस नहीं।'

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेदों में पशुओं को मारने और मांस खाने के लिए मना किया गया है अर्थात वैदिक आर्य लोग न तो मांस खाते थे और न ही पशुओं को मारते थे। दूसरे शब्दों में आदि कालीन मानव मांसाहारी नहीं था।

चरक संहिता – 'चरक संहिता' के चिकित्सा स्थान 19.4 में लिखा हुआ है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का स्पर्श मात्र होता था। वे आलम्भ थे यानि उनका वध नहीं किया जाता था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आदिकाल में पशुओं को मार कर खा जाना तो दूर यज्ञों में भी पशुओं का वध नहीं किया जाता था।

महाभारत के अनुशासन पर्व और मत्स्य पुराण में भी इस प्रकार के तथ्यों के उल्लेख आए हैं। ''वाशिष्ट धर्मसूत्र'' का अध्याय 21 भी इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके अनुसार उस काल में भी वृथा मांस भक्षण निषिद्ध था।

प्राचीन विदेशी वाङ्मय

यहूदी और यवन – आर्यों की भाँति ही यहूदी और यवन लोग भी कालमान में चतुर्युगी में विश्वास करते थे। उनके यहाँ प्राचीन ग्रन्थों में लिखा मिलता है कि सुवर्ण युग (सत्युग) में मनुष्य निरामिष भोजी था। पं. भगवद्दत्त ने इन संदर्भ में एक उदाहरण दिया है जिसमें बताया गया है कि–

"Among the Greaks and Semities, therefore, the idea of a Golden age and the trait that in that age man was vegetarian in his diet ..." ('भारतवर्ष का बृहद इतिहास', भाग–1, पृष्ठ 211)

हेरोडोटस– प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस ने अपने ग्रन्थ के भाग–1 के पृष्ठ 173 पर लिखा है कि मिस्र के पुरोहितों का यह धार्मिक सिद्धान्त था कि वे यज्ञ के अतिरिक्त किसी जीवित पशु को नहीं मारते थे। स्पष्ट है कि यज्ञ के अलावा पशु हत्या वहाँ भी नहीं होती थी।

मेगस्थनीज– मेगस्थनीज के अनुसार आदिकाल में मानव पृथ्वी से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न आहार पर निर्भर था। (फ्रेग्मेन्ट्स, पृष्ठ 34)

भारतीय और विदेशी वाङ्मय के आधार पर दिए गए उक्त विवरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आदिकालीन मानव मांसाहारी नहीं वरन निरामिष भोजी था।

वेदों का संरचना काल 1500 से 1200 ई. पू. तक

भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदों के संकलन का सृष्टि निर्माण से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। कारण, उसका मानना है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने सृष्टि का निर्माण करके उसके संचालन के लिए जो विधान दिया है, वह वेद ही है। भारतीय कालगणना के अनुसार वर्तमान सृष्टि को प्रारम्भ हुए 1.97 अरब वर्ष से अधिक हो गए हैं, जबकि बाइबिल के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि वर्तमान सृष्टि को बने 6000 वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं अर्थात इससे पूर्व कहीं भी कुछ भी नहीं था। इस संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान एच. जी. वेल्स का 'आउटलाइन ऑफ वर्ड हिस्ट्री (1934 ई.) के पृष्ठ 15 पर लिखा निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है–

''केवल दो सौ वर्ष पूर्व मनुष्योत्पत्ति की आयु 6000 वर्ष तक मानी जाती थी परन्तु अब पर्दा हटा है तो मनुष्य अपनी प्राचीनता लाखों वर्ष तक आंकने लगा है।''

आज भारत के ही नहीं, विश्व के अनेक देशों के विद्वान यह मानने लगे हैं कि मानव सभ्यता का इतिहास लाखों–लाखों वर्ष पुराना है और वह भारत से ही प्रारम्भ होता है। विगत दो शताब्दियों में अनेक स्थानों पर हुए भू–उत्खननों में जो पुरानी से पुरानी सामग्री मिली है, उससे भी यही स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता लाखों–लाखों वर्ष पुरानी है। इसकी पुष्टि स्काटलैण्ड में मिली 1.40 लाख वर्ष पुरानी और अमेरिका में मिली 2 लाख वर्ष पुरानी मानव–हड्डियाँ कर रही हैं। अन्य अनेक स्थलों पर इनसे भी और अधिक प्राचीन सामग्री मिली है। जहाँ तक भारत में ही सृष्टि के प्रारम्भ होने की बात है तो इस विषय में प्राणी शास्त्र के ज्ञाता मेडलीकट और ब्लम्फर्ड, इतिहास विषय के विद्वान थोर्टन, कर्नल टॉड और सर वाल्टर रेले, भूगर्भशास्त्री डॉ. डान (अमेरिका) तथा जेकालियट, रोम्यांरोलां, रैनेग्वानां जैसे अन्य विद्वानों का भी मानना है कि सृष्टि का प्रारम्भ भारत में ही हुआ था क्योंकि मानव के जन्म और विकास के लिए आवश्यक समशीतोषण तापमान के चिह्न प्राचीनकाल में भारत में ही मिलते हैं। इन प्रमाणों के समक्ष पाश्चात्य जगत के उन विद्वानों के निष्कर्ष, जो 17वीं से 19वीं शताब्दी के बीच विश्व के विभिन्न देशों में गए हैं और जिन्हें किसी भी देश का इतिहास तीन से पाँच हजार वर्ष पूर्व से अधिक नहीं लगा, कहाँ ठहरेंगे ?

आज यह सर्वमान्य तथ्य है कि ऋग्वेद भारत का ही नहीं विश्व का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना के लिए पाश्चात्य विद्वानों, यथा– मैक्समूलर, मैक्डोनल आदि ने 1500–1000 ई. पू. का काल निर्धारित किया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ की रचना का काल आज से मात्र 3000–3500 वर्ष पूर्व ही निर्धारित किया है। यदि ऐसा है तो क्या लाखों वर्ष पूर्व से चलती आई मानव सभ्यता के पास अपना कोई लिखित साहित्य 3500 वर्ष से पूर्व था ही नहीं ? यह बात प्रामाणिक नहीं लगती, विशेषकर उस स्थिति में जबकि भारतीय कालगणना के अनुसार

वर्तमान सृष्टि का निर्माण हुए एक अरब 97 करोड़ 29 लाख से अधिक वर्ष हो गए हैं और आज के वैज्ञानिकों द्वारा भी पृथ्वी की आयु 2 अरब वर्ष या इससे अधिक की निश्चित की जा रही है। यदि भारत के सृष्टि सम्वत, वैवस्वत मनु सम्वत आदि की बात छोड़ भी दें तो भी कल्याण के 'हिन्दू संस्कृति' अंक के पृष्ठ 755 पर दी गई विदेशी सम्वतों की जानकारी के अनुसार चीनी सम्वत 9 करोड़ 60 लाख वर्ष से ऊपर का है, खताई सम्वत 8 करोड़ 88 लाख वर्ष से ऊपर का है, पारसी सम्वत एक लाख 89 हजार वर्ष से ऊपर का है, मिस्री सम्वत (इस सभ्यता को आज के विद्वान सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं) 27 हजार वर्ष से ऊपर का है, तुर्की और आदम सम्वत 7–7 हजार वर्ष से ऊपर के हैं, ईरानी और यहूदी सम्वत क्रमशः 6 हजार और 5 हजार वर्ष से ऊपर के हैं। इतने दीर्घकाल में क्या किसी भी देश में कुछ भी नहीं लिखा गया ?

यह ठीक है कि मैक्समूलर ने वेदों की संरचना के लिए जो काल निर्धारित किया था, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने तो मान्यता दी ही, भारत के भी अनेक विद्वानों ने थोड़े बहुत हेर–फेर के साथ उसे ही मान्यता प्रदान कर दी किन्तु ऐसे विदेशी और देशी विद्वानों की संख्या भी काफी रही है और अब निरन्तर बढ़ती जा रही है, जो 1500 ई. पू. में वेदों की रचना हुई है, ऐसा मान लेने को तैयार नहीं हैं। अलग–अलग विद्वानों ने वेदों के संकलन के लिए अलग–अलग काल निर्धारण किया है। कुछ विद्वानों का काल निर्धारण इस प्रकार है –

मेक्डोनल आदि विभिन्न पाश्चात्य विद्वान – 1200 से 1000 ई. पू.
कीथ – 1200 ई. पू.
बुहलर – 1500 ई. पू.
मैक्समूलर – 1500 ई. पू. से 1200 ई. पू.
हॉग, व्हिटने, विल्सन ग्रिफिथ, रमेशचन्द्र दत्त – 2000 ई. पू.
विंटर्निट्स – 2500 ई. पू.
शंकर बालकृष्ण दीक्षित – 3000 ई. पू.
जैकोबी – 3000–4000 ई. पू.
बाल गंगाधर तिलक – 6000 से 10,000 ई. पू.
हड़प्पा की प्राचीनता के आधार पर * – 6000 ई. पू. के आसपास
जे. एफ. जेरिग (J.F. Jarrige) ** – 10,000 ई. पू. से अधिक
डॉ. डेविड फ्राउले – 12,000 वर्ष से अधिक
डॉ. सम्पूर्णानन्द – 18,000 से 30,000 ई. पू.
डॉ. विष्णु श्रीधर बाकणकर *** – 25,000 वर्ष से अधिक
अविनाशचन्द्र दास एवं देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय – 25,000 से 50,000 ई. पू.
भारतीय पौराणिक आधार पर – सृष्टि निर्माण के प्रारम्भिक काल में

* नवीनतम शोधों के अनुसार 3500 ई. पू. से आगे की मानी जा रही है

** बिलोचिस्तान में बोलन दर्रे के निकट मेहरगढ़ की खुदाई में मिली सामग्री के लिए दी गई 7500–8000 ई. पू. की तिथि के आधार पर

*** सरस्वती–नदी के आधार पर जिसके किनारों पर वेदों का संकलन हुआ था।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जैसे–जैसे नए–नए पुरातात्त्विक उत्खनन होते जा रहे हैं, वैसे–वैसे भारतीय सभ्यता प्राचीन से प्राचीनतर सिद्ध होती जा रही है और वैसे–वैसे ही विश्व के सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थ वेद की प्राचीनता भी बढ़ती जा रही है क्योंकि यह भारत का सर्वप्रथम ग्रन्थ है।

भारत की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों की हेरा–फेरी

भारतीय इतिहास का आधुनिक रूप में लेखन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास लिखते समय भारतीय वाङ्मय के स्थान पर भारत के सम्बन्ध में विदेशियों द्वारा लिखे गए ग्रन्थों को मुख्य रूप में

आधार बनाया है। ऐसा करके उन्होंने अपने लेखन के क्षेत्र के आधार को सीमित करके उसे एकांगी बना लिया। भारतीय ग्रन्थों को उन्होंने या तो पढ़ा ही नहीं, यदि पढ़ा भी तो उन्हें गम्भीरता से नहीं लिया और गहराई में जाए बिना ही उन्हें अप्रामाणिकता की कोटि में डाल दिया। इसी कारण भारत की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों में तरह–तरह की भ्रान्तियाँ पैदा हो गईं। उन भ्रान्तियों के निराकरण के लिए अर्थात अपने असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए उन लोगों को जबरन नई–नई और विचित्र कल्पनाएँ करनी पड़ीं, जो स्थिति का सही तौर पर निदान प्रस्तुत करने के स्थान पर उसे और अधिक उलझाने में ही सहायक हुईं।

भारत की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियाँ – भारत की ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों में अशुद्धता, मुख्यतः विंटर्निट्ज जैसे पाश्चात्य लेखकों के स्पष्ट रूप में यह मान लेने पर कि भारत के इतिहास के संदर्भ में भारतीयों द्वारा बताई गईं तिथियों की तुलना में चीनियों द्वारा बताई गई तिथियाँ आश्चर्यजनक रूप से उपयुक्त एवं विश्वसनीय है, अर्थात भारतीय आधारों का निरादर करके उनके स्थान पर चीन, यूनान, आदि देशों के लेखकों द्वारा भारत के संदर्भ में लिखे गए ग्रन्थों में उल्लिखित अप्रामाणिक तिथियों के अपनाने से आई हैं। इसी कारण जोन्स आदि को भारत के ऐतिहासिक तिथिक्रम में ऐसी कोई तिथि नहीं मिली, जिसके आधार पर वे भारत के प्राचीन इतिहास के तिथिक्रम का निर्धारण कर पाते। यह आश्चर्य की बात ही है कि भारतीय पुराणों में उल्लिखित एक ठोस तिथिक्रम के होते हुए भी जोन्स ने यूनानी साहित्य के आधार पर 327 ई. पू. में सेंड्रोकोट्टस के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य को जीवित मानकर 320 ई. पू. में उसके राज्यारोहण की कल्पना कर डाली और इसी तिथि को आधार बनाकर भारत का एक ऐसा पूरा ऐतिहासिक तिथिक्रम निर्धारित कर दिया जो कि भारतीय स्रोतों के आधार पर कहीं टिक ही नहीं पाता। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि एक देश विशेष का इतिहास लिखते समय विदेशी साहित्य का सहयोग लेना तो उचित माना जा सकता है किन्तु उसके आधार पर उस देश का ऐतिहासिक तिथिक्रम तैयार करना किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। 320 ई. पू. के आधार पर भारत के ऐतिहासिक तिथिक्रम का निर्धारण करके और वह भी भारतीय स्रोतों को न केवल नकार कर वरन उसे कपोल–कल्पित तथा अप्रामाणिक बताकर पाश्चात्य लेखकों ने भारत की भावी संतति के साथ अन्याय ही नहीं किया, वरन विश्वासघात भी किया है।

विदेशी आधारों पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास की घटनाओं की जो तिथियाँ निर्धारित की गईं, उनकी पुष्टि किसी भी भारतीय स्रोत के आधार पर नहीं हो पाती। कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ इस प्रकार हैं –

- भारतीय इतिहास अधिक से अधिक 3000–2500 ई. पू. से प्रारम्भ होता है।
- वेदों की रचना 1500 से 1000 ई. पू. के बीच में हुई थी।
- महाभारत अधिक से अधिक 800 ई. पू. में हुआ था।
- स्मृतियों का रचनाक्रम अधिक से अधिक 200 ई. पू. में प्रारम्भ हुआ था।

आज की तथाकथित शुद्ध ऐतिहासिक परम्परा में यदि किसी घटना से सम्बंधित तिथि ही गलत हो तो अन्य विवरणों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। जबकि भारत के इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा एक–दो नहीं अनेक स्थानों पर ऐसा किया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करने से ही नहीं उनके अशुद्ध काल–निर्धारण करने के कारण भी अनेक स्थानों पर घटनाओं की श्रृंखलाएँ टूट गई हैं। टूटी हुई श्रृंखलाओं को मिलाने के लिए आधुनिक इतिहासकारों को बे–सिर–पैर की विचित्र–विचित्र कल्पनाएँ करनी पड़ीं, जिससे स्थिति बड़ी ही हास्यास्पद बन गई, यथा– भारतीय इतिहास के कई लेखकों को भिन्न–भिन्न कालों में हुए दो–दो और कई को तीन–तीन कालीदासों की कल्पना करनी पड़ी है। इसी प्रकार से कई विद्वानों को दो–दो भास्कराचार्य ही नहीं प्रभाकर भी दो–दो मानने पड़े हैं। श्री चन्द्रकान्त बाली ने तो एक शूद्रक की जगह तीन–तीन शूद्रक बना दिए हैं (सरस्वती, मई 1973)। स्व. बालकृष्ण

दीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' के पृष्ठ 294 पर दो बराहमिहिर हुए माने हैं। यही नहीं, कुछ विद्वानों ने शौनक ऋषि के समकालीन आश्वलायन को बुद्ध का समकालीन आस्सलायन बता दिया है। इसी प्रकार प्रद्योत वंश के संस्थापक को अवन्ती का चण्ड प्रद्योत समझ लिया है। ऐसी कल्पनाओं के फलस्वरूप भारतीय इतिहास में विद्यमान भ्रान्तियों की लम्बी सूची दी जा सकती है। ये भ्रान्तियाँ इस बात की स्पष्ट प्रमाण हैं कि अशुद्ध और अप्रामाणिक तिथियों के आधार पर लिखा गया किसी देश का इतिहास कितनी मात्रा में विकृत हो जाता है।

साहित्यिक

भारत में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव

भारतीय दृष्टि से इतिहास एक विद्या विशेष है। विद्या के रूप में इतिहास का उल्लेख सर्वप्रथम अथर्ववेद में किया गया है। अथर्ववेद सृष्टि निर्माता ब्रह्मा जी की देन है, ऐसा माना जाता है। अतः भारत में ऐतिहासिक सामग्री की प्राचीनता असंदिग्ध है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि भारत में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव था, वास्तविकता को जानबूझकर नकारने के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। व्यास शिष्य लोमहर्षण के अनुसार प्रत्येक राजा को अपने समय का काफी बड़ा भाग इतिहास के अध्ययन में लगाना चाहिए और राजमंत्री को तो इतिहास तत्त्व का विद्वान होना ही चाहिए। राजा के लिए प्रतिदिन इतिहास सुनना एक अनिवार्य कार्य था। यदि प्राचीन काल में ऐतिहासिक सामग्री नहीं थी तो वे लोग क्या सुनते थे ?

भारत के इतिहास का आधुनिक रूप में लेखन करते समय मुख्य बात तो यह रही कि सत्ताधारी और उनके समर्थक इतिहासकार भारत की प्राचीन सामग्री को सही रूप से प्रकाश में लाना ही नहीं चाहते थे। इसीलिए उसको प्रकाश में लाने के लिए जितने श्रम और लगन से खोज करने की आवश्यकता थी, वह नहीं की गई। इस संदर्भ में कर्नल टॉड का 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ की भूमिका में यह कहना सर्वथा उपयुक्त लगता है कि–

''जब सर विलियम जोन्स ने संस्कृत साहित्य की खोज शुरू की तो बड़ी आशा बंधी थी कि इससे संसार के इतिहास को बहुत कुछ प्राप्त होगा किन्तु वह आशा अब तक पूर्ण नहीं हुई। इससे उत्साह के स्थान पर निराशा और उदासीनता व्याप्त हो गई। सभी मानने लगे कि भारतवर्ष का कोई जातीय इतिहास है ही नहीं। इसके उत्तर में एक फ्रान्सीसी ओरिएन्टलिस्ट के कथन को रख सकते हैं जिसने बड़ी चतुराई से पूछा कि 'अबुलफजल' ने हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास के लिए सामग्री कहाँ से प्राप्त की थी ?''

वास्तव में विल्सन ने कश्मीर के 'राजतरंगिणी' नामक इतिहास का अनुवाद करते समय इस अविचार को बहुत कुछ घटाया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास लिखने की नियमबद्ध परिपार्टी भारतवर्ष में अविदित नहीं थी और ऐसा निश्चित करने के लिए सन्तोषजनक प्रमाण मिलते हैं कि किसी समय में इतिहास की पुस्तकें वर्तमान समय की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपलब्ध थीं ...।''

जहाँ तक भारत में ऐतिहासिक ग्रन्थों का प्रश्न है, इस दृष्टि से निराशा की इतनी बात नहीं है, जितनी कि पाश्चात्य इतिहासकारों ने दर्शाई है। मूल ऐतिहासिक ग्रन्थों के अभाव के इस युग में भी एक दो नहीं अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें बड़ी मात्रा में भारत की ऐतिहासिक सामग्री सुलभ है। मुख्य प्रश्न तो संस्कृत आदि भाषाओं के ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरी सामग्री को खोजकर निकालने और उसे सही परिप्रेक्ष्य में तथा उचित ढंग से सामने लाने का था, जो कि सही रूप में नहीं किया गया।

(1) संस्कृत वाङ्मय

संस्कृत वाङ्मय में से वैदिक और ललित साहित्य के कुछ ऐसे ग्रन्थों के नामों के साथ ज्योतिष, आयुर्वेद तथा व्याकरण के कुछ ग्रन्थों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, जिनमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख सुलभ हैं।

वैदिक साहित्य – विभिन्न संहिताओं, उपसद्, ऐतरेय, जैमनीय, गोपथ, शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों, विभिन्न आरण्यकों, उपनिषदों, वेदांग साहित्य, कल्पसूत्र, ग्रह्य सूत्र, स्मृति ग्रन्थों आदि में महाभारत काल से लाखों–लाखों वर्ष पूर्व की प्राचीन ऐतिहासिक घटनाएँ यथा– इन्द्र द्वारा किए गए विभिन्न युद्धों के वर्णन, इन्द्र–त्वष्टा संघर्ष, विश्वामित्र–वसिष्ठ की शत्रुता, इन्द्र द्वारा नहुष और दिवोदास को बल प्रदान करने जैसी विविध कथाएँ तथा अन्य विविध ऐतिहासिक सामग्री सुलभ है।

ललित साहित्य – महाकाव्य/काव्य ग्रन्थों, यथा– विभिन्न रामायणों, महाभारत, रघुवंश, जानकीहरण, शिशुपाल वध, दशावतार चरित आदि, विभिन्न ऐतिहासिक नाटकों, यथा– अमृतमन्थन समवकार, लक्ष्मी स्वयंवर, वैणीसंहार, स्वप्नवासवदत्ता आदि, विविध कथा ग्रन्थों, यथा– बन्धुमति, भैमरथी, सुमनोत्तरा, बृहदकथा, शूद्रककथा, तरंगवती, त्रैलोक्यसुन्दरी, चारुमति, मनोवती, विलासमती, अवन्तिसुन्दरी, कादम्बरी आदि के साथ क्षेमेन्द्र की बृहदकथामंजरी, सोमदेव का कथासरित्सागर तथा चरित ग्रन्थों, यथा– प्राचीन काल के पुरुरवा चरित, ययाति चरित, देवर्षि चरित और बाद के बुद्ध चरित, शूद्रक चरित, साहसांकचरित, हर्षचरित, विक्रमांकचरित, पृथ्वीराज रासो आदि में पर्याप्त मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री सुलभ है।

ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रन्थ – कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, देवल आदि तथा इनसे पूर्व के ज्योतिष से सम्बंधित विद्वानों की रचनाएँ ऐतिहासिक काल निर्धारण के संदर्भ में बड़े महत्व की हैं। गर्ग संहिता, चरक संहिता में भी अनेक ऐतिहासिक सूत्र विद्यमान हैं।

अर्थ शास्त्र – कौटिल्य के 'अर्थ शास्त्र' में चार स्थानों पर, यथा– अध्याय 6, 13, 20 और 95 में प्राचीन आर्य राजाओं के संदर्भ में बहुत सी उपयोगी बातें लिखी हैं जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

व्याकरण ग्रन्थ – ये ग्रन्थ केवल भाषा निर्माण के सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं रहे हैं, उनमें तत्कालीन ही नहीं, उससे पूर्व के समय के भी धर्म, दर्शन, राजनीति शास्त्र, राजनीतिक संस्थाओं आदि के ऐतिहासिक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, जिससे वे इतिहास विषय पर लेखन करने वालों के लिए परम उपयोगी बन गए हैं। पाणिनी की 'अष्टाध्यायी', पतंजलि का महाभाष्य इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। उत्तरवर्ती वैयाकरणों में 'चान्द्रव्याकरण' और पं. युधिष्ठिर मीमांसक का 'संस्कृत व्याकरण–शास्त्र का इतिहास', भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

उक्त वैदिक और ललित साहित्य तथा ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, व्याकरण आदि के ग्रन्थों के अलावा भी संस्कृत भाषा के बहुत से उल्लेखनीय ग्रन्थ हमारे यहाँ आज भी इतनी बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं कि उन सबका ब्योरा यहाँ दे पाना कठिन ही नहीं, असंभव है।

(2) ऐतिहासिक ग्रन्थ

(अ) राजतरंगिणी – कश्मीरी कवि कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' में कश्मीर के राजवंशों का इतिहास दिया गया है। इसकी रचना 1148 ई. में हुई थी। विल्सन, स्मिथ आदि कई पाश्चात्य लेखकों ने भी इस पुस्तक में वर्णित विषय की बड़ी प्रशंसा की है।

'राजतरंगिणी' में कश्मीर राज्य का इतिहास महाभारत युद्ध (3138 ई.पू.) से 312 वर्ष पूर्व से दिया गया है। इसमें 3450 ई. पू. से 1148 ई. ('राजतरंगिणी' के रचनाकाल) तक का इतिहास सुलभ है। इसमें उल्लिखित विवरणों से भारत के प्राचीन इतिहास की अनेक घटनाओं और व्यक्तियों पर काफी प्रकाश पड़ता है। पं. कोटावेंकटचलम ने 'क्रोनोलोजी ऑफ कश्मीर हिस्ट्री रिकन्सटक्टेड' में बताया है कि इसमें महाभारत से पूर्व हुए मथुरा के श्रीकृष्ण–जरासंघ युद्ध, महाभारत–युद्ध और महाभारत के बाद की कश्मीर की ही नहीं

भारत की विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं, यथा– परीक्षित की कश्मीर विजय, परीक्षित की मृत्यु, गौतम बुद्ध की मृत्यु, कनिष्क का राज्यारोहण आदि का उल्लेख भी मिलता है। 'राजतरंगिणी' में दिए गए अनेक ब्योरों की पुष्टि भारतीय पुराणों में उल्लिखित ब्योरों से हो जाती है, किन्तु भारत के इतिहास–लेखन में इस पुस्तक का कोई भी सहयोग नहीं लिया गया। उलटे फ्लीट आदि के द्वारा इसमें उल्लिखित तथ्यों को हर प्रकार से अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया गया।

(आ) नेपाल राजवंशावली – नेपाल की राजवंशावली में वहाँ के राजाओं का लगभग 5 हजार वर्षों का ब्योरा सुलभ है। पं. कोटावेंकटचलम ने इस वंशावली पर काफी कार्य किया है और उन्होंने मगध, कश्मीर तथा नेपाल राज्यों के विभिन्न राजवंशों के क्रमानुसार राजाओं का पूरा ब्योरा 'क्रोनोलोजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड' के परिशिष्ट – 1 (पृ. 89 से 100) में दिया है। इसमें नेपाल के 104 राजाओं के 4957 वर्षों के राज्यकाल की जो सूची दी गई है, उसमें कलियुग के 3899 वर्षों के साथ–साथ द्वापर के अन्तिम 1058 वर्षों का ब्योरा भी दिया गया है।

इस वंशावली से भारतीय इतिहास के भी कई अस्पष्ट पन्नों, यथा– आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य जी के जन्म और विक्रम सम्वत के प्रवर्तक उज्जैन के महाराजा विक्रमादित्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व होने जैसे विषयों, को स्पष्ट करने में सहयोग मिल जाता है।

(3) बौद्ध साहित्य

बौद्धों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ त्रिपिटक है। इसमें तीन पिटक, यथा– सुत्त, विनय और अभिधम्म हैं। इनसे उस समय के भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त विभिन्न राजाओं के समय में अनेक लेखकों द्वारा भी तरह–तरह के ग्रन्थों की रचना की गई, जिनमें तत्कालीन स्थिति का निरूपण व्यापक स्तर पर किया गया है। बौद्ध ग्रन्थ महाबग्ग, महापरिनिब्बान सुत्त, दिग्ध निकाय, निरयावली सुत्त, पेतवत्थु अट्ठकथा, सुमंगल विलासनी संयुत्त निकाय, विप्रा निकाय, सुत्त निपात, विमानवत्थु अट्ठकथा, थेरीगाथा, धम्मपद अट्ठकथा, मंझिम निकाय, अंगुत्तर निकाय आदि ग्रन्थों में बिम्बिसार, अजातशत्रु, दर्शक, उदायि आदि राजाओं के सम्बन्ध में बड़ी जानकारी है। 'मिलिन्द पन्ह' में यूनानी राजा मिनांडर और बौद्ध भिक्षु नागसेन की जीवनी है। इसमें ईसा पूर्व पहली दो शताब्दियों के उत्तर–पश्चिमी भारत के जन–जीवन की झांकी मिलती है। 'दिव्यावदान' में अनेक राजाओं की कथाएँ हैं। 'मंजुश्रीमूलकल्प' भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

(4) जैन साहित्य

बौद्ध साहित्य की तुलना में जैन साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक सशक्त है। यह सही है कि जैन साहित्य का संकलन काफी समय बाद में शुरू किया गया था। फिर भी अनेक राजाओं से सम्बंधित घटनाएँ, सम्वत तथा विभिन्न ऐतिहासिक घटनाएँ जैन साहित्य में विस्तार से मिलती हैं। इस दृष्टि से 'उत्तराध्ययन' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। विक्रम की चौथी और पाँचवीं शताब्दियों से लेकर नौवीं–दसवीं शताब्दियों तक जैनाचार्य जिनसेन, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्र आदि विद्वानों ने जैन मत की टूटी हुई प्राचीन परम्परा को पुनः जोड़ा और इतिहास का संग्रह किया। जैन रचनाओं के आधार पर भी प्राचीन भारत के इतिहास के अनेक टूटे हुए सूत्र जोड़े जा सकते हैं। इस दृष्टि से ई. पू. छठी शतादी में आचार्य यतिवृषभ द्वारा लिखित ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' सहित समय–समय पर लिखित अन्य अनेक ग्रन्थ, यथा– 'उपासमदसाओं', 'राजावलिकथा', 'विविध तीर्थ कल्प', 'जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति', 'बृहत् कल्पसूत्र', 'निर्युक्ति गाथा', 'ज्ञाताधर्म कथा', 'ओमवार्तिक सूत्र', 'निशीथचूर्णि' आदि उल्लेखनीय है।

(5) अन्य क्षेत्रीय ग्रन्थ

सम्राट हर्षवर्धन के पश्चात देश में केन्द्रीय सत्ता समाप्त हो जाने पर देश छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। पंजाब, हिमाचल, गुजरात, राजस्थान आदि क्षेत्रों में स्थापित स्वतंत्र राज्यों में

अपने–अपने राज्यानुसार ऐतिहासिक विवरण तैयार कराए गए। इन राज्यों में मिले कई विवरण प्राचीन इतिहास की अमूल्य धरोहर हैं।

पंजाब और हिमाचल राज्यों में मिली राजवंशावलियों में कई प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं। इसी प्रकार से गुजरात के राजवंशों के सम्बन्ध में भी कई ऐतिहासिक ग्रन्थ सुलभ हो चुके हैं। राजस्थान के विभिन्न राजवंशों के संदर्भ में वहाँ के ही राजकीय संग्रहालयों में अनेक रचनाएँ विद्यमान हैं जिनके संदर्भ में कर्नल टॉड ने अपने ग्रन्थ 'राजस्थान' में संकेत दिए हैं।

इतनी सामग्री के होते हुए भी भारत में ऐतिहासिक सामग्री के अभाव की बात करनी कहाँ तक न्यायसंगत है, यह विचारणीय है।

भारत का प्राचीन साहित्य, यथा– रामायण, महाभारत, पुराण आदि 'मिथ'

भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व सभी भारतीयों को अपने प्राचीन साहित्य में, चाहे वह रामायण हो या महाभारत, पुराण हो या अन्य ग्रन्थ, पूर्ण निष्ठा थी। इसके संदर्भ में 'मिथ' की मिथ्या धारणा अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा ही फैलाई गई क्योंकि अपने उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टि से उनके लिए ऐसा करना एक अनिवार्यता थी। बिना ऐसा किए इन ग्रन्थों में उल्लिखित ऐतिहासिक तथ्यों की सच्चाई से बच पाना उनके लिए कठिन था। जबकि भारतीय ग्रन्थ यथा– रामायण, महाभारत, पुराण आदि भारत के सच्चे इतिहास के दर्पण हैं। इनके तथ्यों को यदि मान लिया जाता तो अंग्रेज लोग भारत के इतिहास–लेखन में मनमानी कर ही नहीं सकते थे। अपनी मनमानी करने के लिए ही उन लोगों ने भारत के प्राचीन ग्रन्थों के लिए 'मिथ', 'अप्रामाणिक', 'अतिरंजित', 'अविश्वसनीय' जैसे शब्दों का न केवल प्रयोग ही किया वरन अपने अनर्गल वर्णनों को हर स्तर पर मान्यता भी दी और दिलवाई। फलतः आज भारत के ही अनेक विद्वान उक्त ग्रन्थों के लिए ऐसी ही भावना रखने लगे जबकि ये सभी ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं।

रामायण – वाल्मीकि ने श्रीराम की कथा के माध्यम से उनसे पूर्व के लाखों–लाखों वर्षों के भारत के इतिहास को सामने रखते हुए भारत के स्वर्णिम अतीत का ज्ञान बड़े ही व्यापक रूप में वर्णित किया है। रामायण की कथा की ऐतिहासिकता के संदर्भ में महर्षि व्यास का महाभारत में यह कथन सबसे बड़ा प्रमाण है, जो उन्होंने वन पर्व में श्रीराम की कथा का उल्लेख करते हुए कहा है – 'राजन ! पुरातन काल के इतिहास में जो कुछ घटित हुआ है अब वह सुनो'। यहाँ 'पुरातन' और 'इतिहास', दोनों ही शब्द रामायण की कथा की प्राचीनता और ऐतिहासिकता प्रकट कर रहे हैं। यही नहीं, श्रीराम की कथा की ऐतिहासिकता का सबसे प्रबल आधुनिक युग का वैज्ञानिक प्रमाण अमेरिका की 'नासा' संस्था द्वारा 1966 में और भारत द्वारा 1992 में छोड़े गए अन्तरिक्ष उपग्रहों ने श्रीराम द्वारा लंका जाने के लिए निर्मित कराए गए सेतु के समुद्र में डूबे हुए अवशेषों के चित्र खींचकर प्रस्तुत कर दिया है।

इस कथा की ऐतिहासिकता का ज्ञान इस बात से भी हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड के नवम् सर्ग के श्लोक 5 में बताया गया है कि जब हनुमान जी सीता जी की खोज के लिए लंका में रावण के भवन के पास से निकले तो उन्होंने वहाँ तीन और चार दाँतों वाले हाथी देखे। श्री पी. एन. ओक के अनुसार आधुनिक प्राणी शास्त्रियों का मानना है कि ऐसे हाथी पृथ्वी पर थे तो अवश्य किन्तु उनकी नस्ल को समाप्त हुए 10 लाख वर्ष से अधिक समय हो गया। दूसरे शब्दों में श्रीराम की कथा दस लाख वर्ष से अधिक प्राचीन तो है ही साथ ही ऐतिहासिक भी है।

महाभारत – यह महर्षि वेदव्यास की महाभारत युद्ध के तुरन्त बाद ही लिखी गई एक कालजयी कृति है। इसे उनकी ही आज्ञा से सर्पसत्र के समय उनके शिष्य वैषम्पायन ने राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय को सुनाया था, जिसका राज्यकाल कलि की प्रथम शताब्दी में रहा था अर्थात इसकी रचना को 5000 साल बीत गए हैं। यद्यपि इसकी कथा में एक परिवार के परस्पर संघर्ष का उल्लेख किया गया है परन्तु उसकी चपेट में सम्पूर्ण भारत ही नहीं अन्य अनेक देश भी आए हैं। फिर भी सारी कथा श्रीकृष्ण के

चारों ओर ही घूमती रही है। यह ठीक है कि आज अनेक लेखक श्रीकृष्ण के भू–अवतरण को काल्पनिक मान रहे हैं किन्तु वे भारत के एक ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसका प्रमाण भारत का साहित्य ही नहीं आधुनिक विज्ञान भी प्रस्तुत कर रहा है।

समुद्र में तेल खोजते समय भारतीय अन्वेषकों को 5000 वर्ष पूर्व समुद्र में डुबी श्रीकृष्ण जी की द्वारिका के कुछ अवशेष दीखे। खोज हुई और खोज में वहाँ मिली सामग्री के संदर्भ में 1994 में तत्कालीन प्रधानमंत्री कार्यालय के मंत्री द्वारा लोकसभा में दिए गए एक प्रश्न के उत्तर में बताया गया था कि वहाँ मिली सामग्री में 3 छिद्रित लंगर, मोहरें, उत्कीर्णित जार, मिट्टी के बर्तन, फ्लेग पोस्ट के साथ–साथ एक जेटी (घाट) आदि उल्लेखनीय हैं। महाभारत युद्ध का काल भारतीय पौराणिक कालगणना के अनुसार आज से 5144–45 वर्ष पूर्व का है। द्वारिका की खोज ने भारतीय पुरातन साहित्य में उल्लिखित श्रीकृष्ण और द्वारिका के साथ–साथ महाभारत की कथा को 'मिथ' की कोटि से निकाल कर इसे इतिहास भी सिद्ध कर दिया है।

पुराण – पुराण भारतीय जन–जीवन के ज्ञान के प्राचीनतम स्रोतों में से हैं। इन्हें भारतीय समाज में पूर्ण सम्मान दिया जाता रहा है। पुराणों को श्रुति अर्थात वेदों के समान महत्त्व दिया गया है – ''श्रुति–स्मृति उभेनेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्'' अर्थात श्रुति और स्मृति दोनों ही नेत्र हैं तथा पुराण हृदय। मनुस्मृति में श्राद्ध के अवसर पर पितरों को वेद और धर्मशास्त्र के साथ–साथ इतिहास और पुराणों को सुनाने के लिए कहा गया है। पुराणों की कथाओं का विस्तार आज से करोड़ों–करोड़ों वर्ष पूर्व तक माना जाता है। इनके अनुसार सृष्टि का निर्माण आज से 197 करोड़ से अधिक वर्ष पूर्व हुआ था। पहले इस बात को कपोल–कल्पित कहकर टाला जाता रहा है किन्तु आज तो विज्ञान भी यह बात स्पष्ट रूप में कह रहा है कि पृथ्वी का निर्माण दो अरब वर्ष से अधिक पूर्व में हुआ था। दूसरे शब्दों में पुराणों में कही गई बात विज्ञान की कसौटी पर सही पाई गई है। अतः इनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। पुराणों से सृष्टि रचना, प्राणी की उत्पत्ति, भारतीय समाज के पूर्व पुरुषों के कार्य की दिशा, प्रयास और मन्तव्य के ज्ञान के साथ–साथ विभिन्न मानव जातियों की उत्पत्ति, ज्ञान–विज्ञान, जगत के भिन्न–भिन्न विभागों के पृथक–पृथक नियमों आदि का भी पता चलता है। इनमें देवताओं और पितरों की नामावली के साथ–साथ अयोध्या, हस्तिनापुर आदि के राजवंशों का महाभारत युद्ध के 1504 वर्ष के बाद तक का वर्णन मिलता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि पुराणों की रचना महाभारत के 1500 वर्षों के बाद हुई है। विभिन्न भारतीय विद्वानों का कहना है कि पुराण तो प्राचीन हैं किन्तु उनमें राजवंशों के प्रकरण समय–समय पर संशोधित किए जाते रहे हैं। यही कारण है कि अलग–अलग पुराणों में एक ही वंश के राजाओं की संख्या में अन्तर मिल जाता है, क्योंकि यह वंश के प्रसिद्ध राजाओं की नामावली है वंशावली नहीं। उदाहरण के लिए– सूर्यवंश के राजाओं की संख्या विष्णु पुराण में 92, भविष्य में 91, भागवत में 87 और वायु में 82 दी गई है। लगता है संशोधनों के ही समय इनमें कुछ बातें ऐसी भी समाविष्ट हो गई हैं जिनके कारण इनकी कुछ बातों की सत्यता पर ऊँगली उठा दी जाती है।

राजाओं और राजवंशों के वर्णन अतिरंजित एवं अवास्तविक

महाभारत युद्ध के 200–250 वर्ष के पश्चात ही भारत की केन्द्रीय सत्ता हस्तिनापुर से निकल कर मगध राज्य में चली गई और मगध की गद्दी पर एक के पश्चात दूसरे वंश का अधिकार होता चला गया। इन सभी वंशों के राजाओं की सूचियाँ 'वायु', 'ब्रह्माण्ड', 'मत्स्य', 'विष्णु', 'श्रीमद्भागवत्' आदि पुराणों में मिलती हैं। साथ ही 'कलियुग राज वृत्तान्त' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भी इन राजवंशावलियों का उल्लेख किया गया है। इन सभी ग्रन्थों में वर्णित राजाओं के नामों तथा उनकी आयु और राज्यकालों में कहीं–कहीं परस्पर अन्तर मिलता है किन्तु यह अन्तर ऐसा नहीं है जिसे ठीक न किया जा सके। जबकि जोन्स आदि

ने उनके सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन किए बिना ही निम्नलिखित कारणों से उन्हें अतिरंजित, अविश्वसनीय और अवास्तविक कहकर नकार दिया–

- सभी राजवंशों का अन्त लगभग समान रूप से हुआ है।
- एक ही राजा के अलग–अलग पुराणों में नाम अलग–अलग हैं।
- राजाओं की आयु और राजवंशों की राज्यावधि बहुत अधिक दिखाई गई है।

सभी राजवंशों का अन्त लगभग समान रूप में हुआ है– महाभारत के बाद मगध के प्रथम राजवंश बार्हद्रथ के पुत्र–विहीन अन्तिम नरेश रिपुंजय जो 50 वर्ष तक अशक्त रहकर राज्य चलाता रहा था, को उसके मंत्री ने मारकर राजगद्दी अपने पुत्र को दे दी। दूसरे राजवंश प्रद्योत के अन्तिम राजा नन्दिवर्धन को काशी के नरेश शिशुनाग ने मारकर गद्दी हथिया ली। नन्दवंश के अन्तिम राजा को चाणक्य ने मरवाकर चन्द्रगुप्त मौर्य को गद्दी दिला दी। मौर्य वंश के अन्तिम सम्राट वृहद्रथ जो 87 वर्ष तक राज्य करते रहने के कारण अत्यन्त अशक्त, दुर्बल और अकुशल हो चुका था, को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर गद्दी पर अधिकार कर लिया। पुष्यमित्र के वंश के श्रीविहीन अन्तिम राजा देवभूति को उसके मंत्री ने मारकर कण्व वंश का शासन स्थापित किया। इस वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को उसके सेवक श्रीमुख ने मारकर राज्य संभाल लिया। आन्ध्र वंश के अन्तिम राजा चन्द्रश्री को और बाद में उसके पुत्र को मारकर आन्ध्रभृत्य वंश अर्थात गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त प्रथम ने सत्ता संभाल ली। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सभी राजवंशों का अन्त अन्तिम राजा को मारकर ही किया गया है किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि ये सब वृत्त झूठे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि एक दो को छोड़कर अधिकांश राजाओं की मृत्यु का कारण उनकी दुर्बलता और निष्क्रियता रहा है, जो कि राजाओं के लिए विनाशकारी होती ही है।

एक ही राजा के अलग–अलग पुराणों में नाम अलग–अलग हैं– भारत के प्राचीन राजवंशों के कई राजाओं के नाम अलग–अलग पुराणों में अलग–अलग मिलते हैं। इससे सन्देह होता है सही नाम कौन सा है और वह व्यक्ति हुआ भी है या नहीं। नामों में अन्तर कई कारणों से हुआ है, यथा–

(1) भिन्न–भिन्न पुराणों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते समय अनजाने में ही नामों के अक्षर आगे–पीछे हो गए हैं या कहीं–कहीं ग्रन्थ की प्रति अधिक प्राचीन होने से लिखावट पढ़ पाने में कठिनाई के कारण अथवा कहीं–कहीं ध्वनि साम्य के कारण भी नामों के अक्षरों में अन्तर आ गया है, जैसे– सोमाधि और सोमापि, अयुतायु और अयुनायु, सूर्यक और सुबक या अजक या जनक, दर्भक और दर्शक, उदयन और उदायी आदि।

(2) कहीं–कहीं स्मृति–भेद के कारण भी नाम अलग–अलग हो गए हैं, जैसे– द्रुर्हसेन का द्रुदसेन या दृढ़सेन, उदयन का उदयाश्व या उदायी, आदि।

(3) नामों के अन्तर का एक कारण विभिन्न पुराणों का वर्णन कविता में होना भी है। कविता में छन्द, अलंकार, शब्द, मात्रा, वर्ण आदि के बन्धनों के कारण व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम के खण्डों की मात्राओं और अक्षरों को आगे–पीछे कर दिया गया है और कहीं–कहीं समानार्थक शब्दों का प्रयोग भी कर दिया गया है, यथा– महाबल और महाबाहु, रिपुंजय और शत्रुंजय आदि।

राजाओं की आयु और राजवंशों की राज्यावधि बहुत अधिक दिखाई गई है– इस संदर्भ में सबसे मुख्य बात तो यह है कि उस समय सामान्य लोगों की आयु ही अधिक होती थी। फिर राजाओं की, जिन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं, अधिक आयु होना अस्वाभाविक नहीं था। वैसे जितना ज्यादा शोर आयु और शासनकाल की अधिकता का मचाया गया है उतना है कुछ नहीं। बार्हद्रथ वंश से आन्ध्रवंश तक 8 वंशों के 97 राजाओं की कुल राज्यावधि 2811 वर्ष के हिसाब से प्रति राजा के शासन की औसत 29 वर्ष बनती है। इनमें से 50 या अधिक वर्षों तक राज्य करने वाले केवल 17 राजा हुए हैं, जिनमें से 10 तो अकेले बार्हद्रथ वंश के ही हैं। इस स्थिति में यह औसत ठीक ही है। यह भी उल्लेखनीय है कि बार्हद्रथ और शुंग वंशों के राजाओं को छोड़कर अन्य वंशों में जिन राजाओं की आयु अधिक रही है, उनसे पहले

और बाद वाले राजा की आयु कम रही है। स्पष्ट है कि पहले वाला राजा जल्दी मर गया और उसके कम आयु वाले पुत्र को गद्दी जल्दी मिल गई और वह ज्यादा समय तक राज्य करता रहा तो उसके पुत्र को शासन करने के लिए कम समय मिला। इंग्लैण्ड में विक्टोरिया को गद्दी छोटी आयु में मिल जाने से और अधिक वर्षों तक जीवित रहने के कारण उसके पुत्र एडवर्ड अष्टम को राज्य करने के लिए केवल 7–8 वर्ष ही मिले थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजाओं की आयु और शासन अवधि की अधिकता के संदर्भ में ऐसा कुछ नहीं है कि पूरी की पूरी सूचियों को अतिरंजित, अस्वाभाविक और अप्रामाणिक करार दे दिया जाए।

सिकन्दर का भारत पर आक्रमण 327 ई. पू. में हुआ और सेंड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त मौर्य) 320 ई. पू. में भारत का सम्राट बना

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने की दृष्टि से कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यद्यपि आवश्यक सामग्री जुटाने के लिए पहले भारतीय ग्रन्थों की ओर ध्यान दिया तो अवश्य किन्तु लक्ष्य भिन्न होने से वे ग्रन्थ उन्हें अपनी योजना में सहायक प्रतीत नहीं हुए। अतः उन्होंने भारत के संदर्भ में विदेशियों द्वारा लिखे गए ऐसे साहित्य पर निगाह डालनी प्रारम्भ की जो उनके उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग दे सके। इस प्रयास में उन्हें यूनानी साहित्य में कुछ ऐसे तथ्य मिल गए जो उनके लिए उपयोगी हो सकते थे किन्तु वे तथ्य अपूर्ण, अस्पष्ट और अप्रामाणिक थे। अतः पहले तो उन्होंने सारा जोर उन्हें पूर्ण रूप से सत्य, स्पष्ट और प्रामाणिक सिद्ध करने में लगाया। अपनी बातों की युक्तिसंगत बनाने के लिए उन्हें कई प्रकार की नई–नई कल्पित कथाएँ बनानी पड़ीं। यह कल्पना भी उन्हीं में से एक है।

पाश्चात्य इतिहासकारों की इस कल्पना की पुष्टि न तो पुराणों सहित भारतीय साहित्य या अन्य स्रोतों से ही होती है और न ही यूनानी साहित्य को छोड़कर भारत से इतर देशों के साहित्य या अन्य स्रोतों से होती है। स्वयं यूनानी साहित्य में भी ऐसे अनेक समसामयिक उल्लेखों का, जो कि होने ही चाहिए थे, अभाव है, जिनसे आक्रमण की पुष्टि हो सकती थी। यूनानी विवरणों के अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी में यूनान का राजा सिकन्दर विश्व–विजय की आकांक्षा से एक बड़ी फौज लेकर यूनान से निकला और ईरान आदि को जीतता हुआ वह भारत के उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र के पास आ पहुँचा। यहाँ उसने छोटी–छोटी जातियों और राज्यों पर विजय पाई। इन विजयों से प्रोत्साहित होकर वह भारत की ओर बढ़ा, जहाँ उसकी पहली मुठभेड़ झेलम और चिनाव के बीच के छोटे से प्रदेश के शासक पुरु से हुई। उसमें यद्यपि वह जीत गया किन्तु विजय पाने के लिए उसे जो कुछ करना पड़ा, उससे तथा अपने सैनिकों के विद्रोह के कारण उसका साहस टूट गया और उसे विश्व–विजय के अपने स्वप्न को छोड़कर स्वदेश वापस लौट जाना पड़ा।

यूनानी इतिहासकारों ने इस घटना को जहाँ बहुत बढ़ा–चढ़ा कर चित्रित किया है वहीं भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने वाले पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा भी इसे इतना महत्वपूर्ण मान लिया गया कि इसके आधार पर 327 ई. पू. में सिकन्दर के आक्रमण के समय सेंड्रोकोट्टस के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य को जीवित मानकर आक्रमण के पश्चात 320 ई. पू. को उसके राज्यारोहण की तिथि घोषित करके उसके भारत सम्राट बनने की भी बात कर दी। यही नहीं, इस तिथि के आधार पर भारत के सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास के तिथिक्रम की भी कल्पना कर डाली किन्तु यह युद्ध हुआ भी है या नहीं, इस विषय में विभिन्न विद्वानों के मत अलग–अलग हैं। यदि यह युद्ध हुआ ही नहीं तो 320 ई. पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य का भारत सम्राट बनना कैसे संभव हो सकता है ?

इस आक्रमण की स्थिति भारत तथा भारतेतर देशों के साक्ष्यों से इस प्रकार बनती है–

(अ) भारतीय साक्ष्य

ऐतिहासिक – भारत के इतिहास का जो ब्योरा विभिन्न पुराणों तथा संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक ग्रन्थों में दिया हुआ है उसमें इस आक्रमण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः भारत के इतिहास की दृष्टि से इसे प्रामाणिक मानना कठिन है।

साहित्यिक – भारत की तत्कालीन साहित्यिक रचनाएँ, यथा– वररुचि की कविताएँ, ययाति की कथाएँ, यवकृति पियंगु, सुमनोत्तरा, वासवदत्ता आदि, इस विषय पर मौन हैं। अतः इस प्रश्न पर वे भी प्रकाश डालने में असमर्थ हैं। यही नहीं, पुरु नाम के किसी राजा का भारतीय साहित्य की किसी भी प्राचीन रचना में कोई भी उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता और मेगस्थनीज का तो दूर–दूर तक पता नहीं है। हाँ, हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के कतिपय अर्वाचीन नाटकों में अवश्य ही इस घटना का चित्रण मिलता है।

साहित्येतर ग्रन्थ – साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विभिन्न विषयों, यथा– आयुर्वेद, ज्योतिष, राजनीति, समाजनीति आदि के ग्रन्थों में भी, जिनमें भारत के अनेक ऐतिहासिक संदर्भ मिलते हैं, इसका उल्लेख नहीं मिलता। चाणक्य का अर्थशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य आदि ग्रन्थ भी इस विषय पर मौन हैं।

(आ) भारतेतर देशों के साक्ष्य

साहित्यिक

पड़ोसी देशों का साहित्य – उस समय के भारतवर्ष के वाङ्मय में ही नहीं, तत्कालीन त्रिबिष्टक (तिब्बत), सीलोन (श्रीलंका) तथा नेपाल के ग्रन्थों में भी भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के बारे में ही नहीं स्वयं तथाकथित विश्व–विजय के आकांक्षी सिकन्दर के बारे में भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

यूनानी साहित्य – विभिन्न यूनानी ग्रन्थों में उपलब्ध मेगस्थनीज के कथनों के अंशों में तथा टाल्मी, प्लिनी, प्लूटार्क, एरियन आदि विभिन्न यूनानी लेखकों की रचनाओं में सिकन्दर के आक्रमण के बारे में विविध उल्लेख मिलते हैं। इन्हीं में सेंड्रोकोट्टस का वर्णन भी मिलता है किन्तु वह चन्द्रगुप्त मौर्य है, इस सम्बन्ध में किसी भी ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। यह तो भारतीय इतिहास के अंग्रेज लेखकों की कल्पना है। यदि वास्तव में ही सेंड्रोकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य होता और उसके समय में ही यूनानी साहित्य लिखा गया होता तो उसमें अन्य अनेक समसामयिक तथ्य भी होने चाहिए थे, जो कि उसमें नहीं हैं। इससे चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आक्रमण हुआ था, इस पर प्रश्नचिन्ह् लग जाता है। इस दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं–

नन्द का कोई उल्लेख नहीं– सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत सम्राट के पद पर महापद्मनन्द का नाम लिया जाता है किन्तु उस नन्द के बारे में यूनानी साहित्य में कुछ भी लिखा हुआ नहीं मिलता। सभी लेखकों की रचनाएँ इस विषय पर मौन हैं।

जैन्ड्रेमस (Xandrammes) का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु इस शब्द का नन्द से न तो ध्वनि–साम्य है और न ही किसी और प्रकार से समानता है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि भले ही जोन्स आदि ने यह माना हो कि सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध की गद्दी पर नन्द बैठा हुआ था किन्तु इलियट के 'भारत का इतिहास', भाग–1, पृ. 108–109 के अनुसार सिकन्दर के हमले के समय 'हल' नाम का राजा गद्दी पर था। भारतीय पौराणिक तिथिक्रम के अनुसार हल का राज्यकाल लगभग 490 ई. पू. में बैठता है। अतः इस सम्बन्ध में निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दर का हमला कब हुआ था ?

टी. एस. नारायण शास्त्री का सिकन्दर के आक्रमण के सम्बन्ध में कहना है कि यद्यपि स्मिथ और उनके अन्य प्रशंसकों ने सिकन्दर के झेलम तक आने का उल्लेख किया है किन्तु वह वास्तव में तक्षशिला से आगे भारत में कभी आया ही नहीं। वहीं उसके सिपाहियों ने रोना–धोना शुरू कर दिया था। अतः उसके सतलुज तक आने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ('एज ऑफ शंकर' (1917 ई.), भाग–1, पृष्ठ 96–97)

चाणक्य का कोई उल्लेख नहीं– भारतीय स्रोतों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य को राजगद्दी अपने गुरु चाणक्य के प्रयत्नों के फलस्वरूप मिली थी। वह चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु, महामंत्री और देश की राजनीति की धुरी था लेकिन तत्कालीन यूनानी साहित्य में चाणक्य का कहीं भी, किसी भी प्रकार का और कोई भी उल्लेख नहीं मिलता।

उक्त समसामयिक तथ्यों का यूनानी साहित्य में उल्लेख न होने से यह सन्देह होता है कि क्या ये वर्णन चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बंधित हैं ? यदि सेंड्रोकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य था तो चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बंधित इन महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख यूनानी साहित्य में क्यों नहीं किया गया ?

इस प्रकार न तो भारतीय साक्ष्य और न ही यूनानी साहित्य सहित अन्य भारतेतर देशों के साक्ष्य यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि विश्व–विजय के स्वप्नद्रष्टा सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भारत पर आक्रमण किया था और सेंड्रोकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य था, विशेषकर इसलिए कि भारतीय पौराणिक आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य 320 ई. पू. से काफी समय पूर्व अर्थात 1534 ई. पू. में मगध की गद्दी पर बैठा था और वही भारत का सम्राट बना था। दूसरे शब्दों में किसी भी आधार पर न तो सिकन्दर के 327 ई. पू. में हुए आक्रमण की और न ही चन्द्रगुप्त मौर्य के 320 ई. पू. में भारत का सम्राट बनने की बात की पुष्टि होती है। अतः यह भी मात्र एक भ्रान्त धारणा ही सिद्ध होती है किन्तु भारत के इतिहास को विकृत करने में इसका बहुत बड़ा हाथ है।

यूनानी साहित्य में वर्णित सेंड्रोकोट्टस ही चन्द्रगुप्त मौर्य

यूनानी साहित्य में बताया गया है कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय यहाँ सेंड्रोकोट्टस नाम का एक बहुत वीर, योग्य और कुशल व्यक्ति था, जो सिकन्दर के भारत से चले जाने के बाद 320 ई. पू. में प्रस्सी की गद्दी पर बैठा था और भारत का सम्राट बना था। जोन्स ने उसे ही चन्द्रगुप्त मौर्य मानकर 28 फरवरी, 1793 को सगर्व यह घोषणा कर डाली कि उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में सेंड्रोकोट्टस को पाकर भारत के इतिहास की सबसे बड़ी, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे कठिन समस्या का निदान पा लिया।

इस प्रश्न पर कि क्या सेंड्रोकोट्टस ही चन्द्रगुप्त मौर्य है, विचार करने के लिए यह जान लेना उचित होगा कि सेंड्रोकोट्टस के सम्बन्ध में प्राचीन यूनानी साहित्य में जो कुछ लिखा मिलता है, क्या वह सब चन्द्रगुप्त मौर्य पर घटता है ? यूनानी साहित्य में सेंड्रोकोट्टस के संदर्भ में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें लिखी हुई मिलती हैं–

(1) सेंड्रोकोट्टस 6 लाख सेना लेकर सारे भारत में घूमा था और अनेक राजाओं को अपने अधीन किया था।

(2) सेंड्रोकोट्टस ने मगध के पहले सम्राट को मारकर साम्राज्य प्राप्त किया था।

(3) सेल्युकस ने युद्ध में हारने के पश्चात अपनी पुत्री का विवाह सेंड्रोकोट्टस से किया था।

(4) जिस क्षेत्र में पालीबोथ्रा स्थित है, वह भारत में बड़ा प्रसिद्ध था। वहाँ के राजा अपने नाम के साथ पालीबोथ्री उपनाम अवश्य लगाते थे।

उक्त बातों को भारतीय स्रोतों, यथा– पुराणों आदि में चन्द्रगुप्त मौर्य के संदर्भ में आए उल्लेखों से मिलान करने पर पाते हैं कि उसके सम्बन्ध में ये बातें तथ्यों से परे हैं, क्योंकि–

(1) चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत में इतने विशाल सैनिक अभियान करने की आवश्यकता हुई ही नहीं।

(2) यूनानी लेखकों की इस स्थापना की पुष्टि में किसी भी अन्य स्रोत से कोई भी ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि यह यूनानी लेखकों की अपनी ही कल्पना है। कारण मगध के सम्राट नन्द को तो चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति हेतु मरवाया था।

(3) चन्द्रगुप्त मौर्य का विवाह किसी यूनानी लड़की से हुआ था, इसका उल्लेख भी किसी भारतीय स्रोत में नहीं मिलता। पं. भगवद्दत्त ने भी अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', में माना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के विदेशी लड़की के साथ विवाह का कोई भी ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के विदेशी कन्या के विवाह के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सिकन्दर का आक्रमण 327 ई. पू. में हुआ था और उस समय चन्द्रगुप्त ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। यदि उस समय चन्द्रगुप्त 24–25 वर्ष का भी रहा होगा तो 320 ई. पू. में गद्दी पर बैठने के समय वह 31–32 वर्ष का अवश्य हो गया होगा। सिकन्दर के आक्रमण के 25 वर्ष बाद सेल्युकस ने भारत पर आक्रमण किया था। युद्ध में हारने के पश्चात यदि उसने अपनी पुत्री की शादी चन्द्रगुप्त से की होगी तो उस समय उसकी आयु 57–58 वर्ष की अवश्य रही होगी। सामान्यः यह आयु नए विवाह करने की नहीं होती। इसके लिए कुछ विद्वानों का यह कहना है कि राजनीतिक विवाह में आयु का प्रश्न नहीं होता।

दूसरी ओर कुछ नाटकों आदि में चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्युकस की पुत्री हेलन या कार्नेलिया की सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानी शिविर में प्रणय चर्चा का उल्लेख किया गया है किन्तु क्या यहाँ से जाने के 25 वर्ष बाद तक वह चन्द्रगुप्त के लिए प्रेम संजोए अविवाहित बैठी रही होगी ? यह बात असंभव न होते हुए भी जमती नहीं।

इस संदर्भ में भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा 'प्राचीन भारत' के पृष्ठ 84 पर कहे गए ये शब्द भी उल्लेखनीय हैं कि– ''चन्द्रगुप्त सेल्युकस की लड़ाई का विस्तृत वर्णन यवन लेखकों ने नहीं किया है। फलतः कुछ लोगों ने तो यह भी सन्देह प्रकट किया है कि उन दोनों में कोई युद्ध हुआ भी था ?'' यदि युद्ध हुआ ही नहीं तो सेल्युकस की लड़की से विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता।

(4) यूनानी साहित्य में सेंड्रोकोट्टस के सम्बन्ध में यह भी लिखा मिलता है कि जिस क्षेत्र में 'पालीबोथ्रा' स्थित है वह भारत भर में बड़ा प्रसिद्ध है और वहाँ के राजा अपने नाम के साथ 'पालीबोथ्री' उपनाम भी लगाते थे। उदाहरण के लिए जैसे सेंड्रोकोट्टस ने किया था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'मौर्य' तो अपने पारिवारिक नाम के रूप में लगाया था, उपनाम के रूप में नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उक्त बातों का मौर्य वंश के पश्चात मगध साम्राज्य पर आने वाले चौथे राजवंश 'गुप्त वंश' के राजाओं के साथ कुछ–कुछ मेल हो जाता है। जैसे, जहाँ तक बड़ी सेना लेकर भारत–विजय करने और विदेशी राजा की पुत्री से विवाह करने की बात है, तो यह दोनों बातें गुप्त राजवंश के दूसरे राजा समुद्रगुप्त से मेल खाती हैं। समुद्रगुप्त ने विशाल सेना के बल पर भारत विजय करके अश्वमेध यज्ञ किया था। उसके सम्बन्ध में हरिषेण द्वारा इलाहाबाद में स्थापित स्तम्भ पर खुदवाए विवरण से उसकी विजय आदि के अलावा यह भी ज्ञात होता है कि पश्चिमोत्तर क्षेत्र में युद्ध–विजय के पश्चात उसे किसी विदेशी राजा ने अपनी कन्या उपहार में दी थी।

जहाँ तक मगध के सम्राट को मारकर राज्य हथियाने की बात है तो यह बात तो गुप्त वंश के प्रथम पुरुष 'चन्द्रगुप्त' से मेल खाती है। उसने ही पहले आन्ध्र वंश के अन्तिम राजा चन्द्रश्री या चन्द्रमस को और बाद में उसके पुत्र को मारकर गद्दी हथियाई थी।

नाम के साथ उपनाम जोड़ने की जहाँ तक बात है तो यह प्रथा भी गुप्त वंश के राजाओं में थी, जैसे–

क्र.सं.	**राजा का नाम**	**उपनाम**
1.	चन्द्रगुप्त प्रथम	विजयादित्य
2.	समुद्रगुप्त	अशोकादित्य
3.	चन्द्रगुप्त द्वितीय	विक्रमादिव्य
4.	कुमारगुप्त प्रथम	महेन्द्रादित्य आदि

सूची से स्पष्ट हो जाता है कि इस वंश के हर राजा ने अपने नाम के साथ उपनाम 'आदित्य' जोड़ा है। गुप्त वंश के राजा सूर्यवंशी थे। उनमें सूर्य के लिए 'आदित्य' शब्द उपनाम में जोड़ने की परम्परा थी अर्थात नाम के साथ उपनाम जोड़ने की बात भी चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ मेल नहीं खाती।

स्पष्ट है कि सेंड्रोकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं है, जिसे जोन्स ने जबरदस्ती बनाया है।

पालीबोथ्रा ही पाटलिपुत्र

यूनानी साहित्य के अनुसार पालीबोथ्रा चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र ही था। इस पर भी भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया जाना आवश्यक है किन्तु पहले यह जान लेना उचित होगा कि पालीबोथ्रा को पाटलिपुत्र मानने की दृष्टि से मेगस्थनीज तथा अन्य यूनानी लेखकों की विभिन्न रचनाओं में क्या–क्या कहा गया है–

(1) ...... परन्तु प्रस्सई शक्ति में बढ़े–चढ़े हैं .... उनकी राजधानी पालीबोथ्रा ही है। यह बहुत बड़ा और धनी नगर है। इस नगर के कारण अनेक लोग इस प्रदेश के निवासियों को पालीबोथ्री कहते हैं। यही नहीं, गंगा के साथ–साथ का सारा भू–भाग इसी नाम से पुकारा जाता है।

(2) वह (हरकुलिश–सरकुलेश–विष्णु) अनेक नगरों का निर्माता था। उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध पालीबोथ्रा था।

(3) जोमेनस (यमुना) नदी पालीबोथ्रा (पाटलिपुत्र) में से होकर बहती हुई मेथोरा (मथुरा) और करिसोबोरा के मध्य में गंगा से मिलती है।

(4) परन्तु एक पथ भी है, जो पालीबोथ्रा में से होकर भारत को जाता है।

(5) प्रस्सी राज्य की सीमा सिन्धु पुलिंद तक है।

(6) पालीबोथ्रा गंगा–यमुना के संगम से 425 मील है और समुद्र में गंगा के गिरने के स्थान से 738 मील है।

(7) पालीबोथ्रा गंगा और इरेन्नोबोस के संगम पर स्थित है।

यूनानियों द्वारा कथित उक्त आधारों पर विचार करने के उपरान्त इनमें से किसी आधार पर भी यह नहीं माना जा सकता कि पालीबोथ्रा पाटलिपुत्र था, क्योंकि–

(1) यूनानियों द्वारा उल्लिखित पालीबोथ्रा को प्रस्सी राज्य की राजधानी बताया गया था, भारतवर्ष की या मगध राज्य की राजधानी नहीं। जहाँ तक पालीबोथ्रा के आसपास के गंगा क्षेत्र के 'पालीबोथ्री' कहलाने और वहाँ के निवासियों के अपने नाम के साथ 'पालीबोथ्री' जोड़ने की बात है, पाटलिपुत्र के साथ मिलान करने पर दोनों ही बातें मेल नहीं खाती क्योंकि वह सारा क्षेत्र मगध कहलाता था और सामान्यतः वहाँ का कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ अपने देश के नाम के अनुसार 'मागधी' नहीं लगाता था।

(2) यूनानियों का पालीबोथ्रा नगर हरकुलिश–विष्णु का बसाया हुआ था। जबकि पाटलिपुत्र नगर सम्राट बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु द्वारा सैनिक दृष्टि से बसाया गया था। यह ठीक है कि कुछ स्थानों पर इस नगर के किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बसाए जाने का उल्लेख भी मिलता है लेकिन अधिकतर विद्वान इसे अजातशत्रु द्वारा ही बसाया गया मानते हैं।

(3) यमुना नदी पालीबोथ्रा से होकर बहती थी और उसके एक ओर मथुरा तथा दूसरी ओर करिसोबोरा था किन्तु पाटलिपुत्र के आसपास तो क्या मीलों दूर तक यमुना नदी का न तो पहले ही पता था और न ही अब है।

(4) यूनानियों की कल्पना का भारत पालीबोथ्रा के आगे था क्योंकि उनके अनुसार पालीबोथ्रा में से होकर एक पथ भारत को जाता था। यदि ऐसा ही था तो क्या यूनानियों की दृष्टि में पाटलिपुत्र के पश्चिम में फैला इतना बड़ा भू–भाग, भारत नहीं था ? लेकिन ऐसा नहीं था क्योंकि विभिन्न यूनानी लेखकों ने अपनी रचनाओं में भारत की जो लम्बाई–चौड़ाई बताई है, वह पूरे भारत की माप है।

(5) सिन्धु पुलिन्द को प्रस्सी राज्य की सीमा पर बताया है। यदि पाटलिपुत्र से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाए तो बिहार में कौन सा सिन्धु पुलिन्द था ? यह बात एकदम असंभव लगती है। महाभारत के अनुसार तो सिन्धु–पुलिन्दक उस समय अलग राज्य थे जो संभवतः भारत के मध्य क्षेत्र में थे–

चेदिवत्सः करुपाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः (म. भी. पर्व)

(6) पालीबोथ्रा को पाटलिपुत्र मान लेने पर न तो वहाँ से गंगा–यमुना का संगम 425 मील ही बनता है और न ही समुद्र तट से पाटलिपुत्र 738 मील ही बनता है। समुद्र से पाटलिपुत्र की दूरी तभी निश्चित की जा सकती है, जब पालीबोथ्रा का स्थान निश्चित हो जाए।

(7) मेगस्थनीज के अनुसार पालीबोथ्रा गंगा और इरेन्नोबोस (Errannoboas-हिरण्यबाहु) के संगम पर बसा हुआ है, जबकि पाटलिपुत्र गंगा और सोन नदी के संगम पर बसा हुआ है। यूनानी लेखक एरियन ने लिखा है कि यह संगम प्रस्सी राज्य की सीमाओं में था और मेगस्थनीज के अनुसार प्रस्सी राज्य की सीमा सिन्धु पुलिन्द तक थी। अब कहाँ गंगा–जमुना का संगम, कहाँ गंगा और सोन का संगम और कहाँ सिन्धु–पुलिन्द, फिर इन सबके साथ पाटलिपुत्र का सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया, यह सब बड़ा विचित्र लगता है।

उक्त सभी तथ्यों और अन्य बातों को देखते हुए ऐसा लगता है कि मेगस्थनीज या अन्य यूनानी लेखक भारत की सही भौगोलिक स्थिति को समझ पाने में असमर्थ रहे हैं।

पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य की राजधानी कभी भी नहीं रहा– यूनानी इतिहासकार भले ही पाटलिपुत्र को मौर्य साम्राज्य की राजधानी मानते रहे हों किन्तु भारतीय पुराणों के अनुसार वह कभी भी मौर्यों की राजधानी नहीं रहा। पुराणों के अनुसार जब से मगध राज्य की स्थापना हुई थी तभी से अर्थात जरासन्ध के पिता बृहद्रथ के समय के पूर्व से ही मगध साम्राज्य की राजधानी गिरिब्रज (वर्तमान राजगृह) रही है। महाभारत युद्ध के पश्चात मगध साम्राज्य से सम्बंधित बार्हद्रथ, प्रद्योत, शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, आन्ध्र–आठों वंशों के समय में इसकी राजधानी गिरिब्रज ही रही है। पाटलिपुत्र की स्थापना तो शिशुनाग वंश के अजातशत्रु ने कराई थी और वह भी मात्र सैनिक दृष्टि से सुरक्षा के लिए।

वैज्ञानिक

भारतीय कालगणना अतिरंजित और अवैज्ञानिक

संसार में कालगणना की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु उनमें से भारतीय कालगणना की ही एकमात्र पद्धति ऐसी है जिसका सम्बन्ध वास्तविक रूप में काल से जुड़ा है और जो सृष्टि के प्रारम्भ से ही एक ठोस वैज्ञानिक आधार पर निर्मित होकर चलती आ रही है। कारण, वह आकाश में स्थित नक्षत्रों, यथा–सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि की गति पर आधारित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में भारतीय कालगणना के मुख्य अंग युग, मन्वन्तर, कल्प आदि, की जो वर्ष गणना दी गई है, वह नक्षत्रों की गति पर आधारित होने से पूर्णतः विज्ञान सम्मत है।

भारतीय कालगणना– ग्रहगतियों के आधार पर भारतीय ग्रन्थों में नौ प्रकार के कालमानों का निरूपण किया गया है। इनके नाम हैं– ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र। इन नवों कालमानों में नाक्षत्रमान सबसे छोटा है। पृथ्वी जितने समय में अपनी धुरी का एक चक्र पूरा करती है, उतने समय को एक नाक्षत्र दिन कहा जाता है। यही दिन या वार ही पक्षों में, पक्ष ही मासों में, मास ही वर्षों में, वर्ष ही युगों में, युग ही महायुगों में, महायुग ही मन्वन्तरों और मन्वन्तर ही कल्पों में बदलते जाते हैं।

भारत की उक्त कालगणना नक्षत्रों की गति की गणना पर निर्भर करती है और गति की गणना गणित के माध्यम से की जाती है। अर्थात भारतीय कालगणना पूर्ण रूप से अंकगणित पर आधारित है। इसकी पुष्टि ज्योतिष शास्त्र के साथ–साथ ऐतिहासिक, साहित्यिक और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टियों से भी होती है, यथा–

अंकगणित– भारतीय कालगणना के प्रत्येक अंग अर्थात दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग, चतुर्युगी, मन्वन्तर, कल्प आदि के संदर्भ में जो गणनाएँ दी गई हैं, उनके पीछे पौराणिक आंकड़ों का एक पुष्ट आधार है। अंकगणित

पर आधारित होने से इन पौराणिक आंकड़ों में युक्ति है, तर्क है, सत्यता है और पूर्णता है। ऐसी पूर्णता आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्धारित आंकड़ों में नहीं है क्योंकि वे वास्तविक नहीं मात्र कल्पना और अनुमान पर आधारित हैं।

मन्वन्तर सिद्धान्त के अनुसार एक मन्वन्तर में 71 चतुर्युगी या महायुग होते हैं। एक चतुर्युगी या महायुग में 1, 2, 3 और 4 के आनुपातिक क्रम से एक–एक बार कलियुग (4.32 लाख वर्ष), द्वापर (8.64 लाख वर्ष), त्रेता (12.96 लाख वर्ष) और सत्युग (17.28 लाख वर्ष) आते हैं अर्थात एक चतुर्युगी में 43.20 लाख वर्ष या दस कलिमान होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के पश्चात सत्युग की अवधि के बराबर का सन्धि काल आता है। वर्तमान पृथ्वी के निर्माण के आरम्भ से अब तक 6 मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवें मन्वन्तर के अट्ठाइसवें महायुग के कलियुग के अब तक 5109 वर्ष बीते हैं। अंकगणित पर आधारित होने के कारण ही इस भारतीय कालगणना के अनुसार आज यह बताया जा सकता है कि वर्तमान सृष्टि को प्रारम्भ हुए आज 1,97,29,49,109 वर्ष हो चुके हैं तथा एक कल्प में 4,32,00,00,000 वर्ष होते हैं।

ज्योतिष शास्त्र – इतनी लम्बी कालगणना को विभिन्न पाश्चात्य ही नहीं अपितु अनेक आधुनिक भारतीय विद्वान भी मानने को तैयार भले ही न हों किन्तु इसकी पुष्टि ज्योतिष के ग्रन्थ 'सूर्य सिद्धान्त' से हो जाती है। सूर्य सिद्धान्त के अध्याय 1 में कहा गया है कि – एक चतुर्युगी में सूर्य, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि 43,20,000 भगण (राशि चक्र) परिवर्तन करते हैं। यही संख्या प्राचीन भारतीय साहित्य में चतुर्युगी के वर्षों की बताई गई है।

सूर्य सिद्धान्त में यह भी कहा गया है कि – सत्युग के अन्त में या त्रेता के प्रारम्भ में 'पाद' और 'मन्दोच्च' को छोड़कर सभी ग्रहों का मध्य स्थान मेष राशि में था। दूसरे शब्दों में उस समय 5वें कलियुग का प्रारम्भ था अर्थात हर 4.32 लाख वर्ष के बाद सात ग्रह एक युति में आ जाते हैं। (सूर्य सिद्धान्त 1.57)

भारतीय कालगणना के उक्त वर्षों की पुष्टि ज्योतिष शास्त्र के 'अयन दोलन' सिद्धान्त से भी हो जाती हैं।

ऐतिहासिक – ज्योतिष के आधार पर पुष्ट हो जाने पर भी भारतीय कालगणना की करोड़ों–करोड़ों वर्षों की संख्या पर फ्लीट सरीखे कई पाश्चात्य विद्वान ही नहीं अनेक भारतीय विद्वान भी यह कहकर प्रश्नचिन्ह् लगा देते हैं कि कालगणना का यह प्रकार आर्य भट्ट से पूर्व था ही नहीं। इस संदर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि इस कालगणना को भारत में ही माना जाता रहा है, ऐसा नहीं है, इसे बेबिलोनिया, ईरान, स्कैण्डेनेविया आदि देशों में भी मान्यता प्राप्त रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से बेबिलोनिया की सभ्यता ई. पू. तीसरी सहस्राब्दी में फूली–फली थी और उस समय तक आर्य भट्ट अवतरित नहीं हुए थे। दूसरे ये संख्याएँ वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में आए ब्योरों से भी पुष्ट होती हैं, जो निश्चित ही आर्य भट्ट से पूर्व के ही है।

साहित्यिक – प्राचीन साहित्य चाहे ईरान और बेबिलोनिया का हो या भारत का सभी में कालगणना के संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं –

ईरान के ग्रन्थ : ईरान के निवासियों के विश्वास के अनुसार काल का एक युगचक्र 12,000 वर्ष का होता है। (दि एज ऑफ दि वर्ल्ड', पृष्ठ 3) भारतीय ग्रन्थों में भी एक चतुर्युगी में 12,000 देव वर्ष होने का उल्लेख आया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है– एकं वा एतद्दैवानामदः यत्सम्वतसरः (3.9.22) अर्थात मानव का एक सम्वतसर देवताओं का एक दिन होता है। इसकी पुष्टि ईरानियों के यहाँ इस संदर्भ में आए उल्लेख से हो जाती है। उनके यहाँ लिखा है– 'तएच अयर मइन्यएन्ते यतयरे' अर्थात देवताओं का एक दिन मानव का एक वर्ष होता है। (स्व. पं. रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति', पृष्ठ 94 पर उद्धृत)। दूसरे शब्दों में देवताओं का एक वर्ष मानव के 360 वर्ष के बराबर होता है अर्थात देवताओं के 12,000 वर्ष मानव के 12,000 X 360 = 43,20,000 वर्ष के बराबर हुए। यही संख्या भारतीय कालगणना के अनुसार एक महायुग या चतुर्युगी की होती है।

बेबिलोनिया के ग्रन्थ : बेबिलोनिया के ग्रन्थों में इस संदर्भ में उल्लिखित संख्या से भी भारतीय ग्रन्थों में बताई गई उक्त संख्या की पुष्टि हो जाती है। इस विषय में 'एनल्स ऑफ दि भण्डारकर इन्स्टीट्युट, खण्ड IV, भाग–1, जुलाई, 1922' में दिए गए शाम शास्त्री के लेख 'ओरिजिन ऑफ दि वीक' में उल्लिखित निम्नलिखित ब्योरा पठनीय है–

''हमारे सूर्य सिद्धान्त (1.11.12) में जिस प्रकार दस स्वर का एक स्वांस, 6 स्वांसों की एक विनाड़ी, 60 विनाड़ियों की एक नाड़ी और 60 नाड़ियों का एक दिन होना लिखा है, उसी प्रकार से बेबिलोनिया के लोगों में 'सास', सर और नेर की गिनती है। यह 'सास', 'सर' और 'नेर', श्वांस, स्वर और नाड़ी का अपभ्रंश रूप ही है। बेबिलोनिया वालों का विश्वास रहा है कि उनके दस राजाओं ने 120 सर राज्य किया था। बेरोसस (प्रसिद्ध ज्योतिषी) के अनुसार एक सास = 60 वर्ष, एक नेर = 60 x 10 = 600 वर्ष और एक सर 60 x 60 = 3600 वर्ष का होता है। 120 सर का कालखण्ड 3600 x 120 = 4,32,000 वर्ष का होता है। यही कालखण्ड कलियुग का है। इससे सिद्ध होता है कि भारत की कालगणना का आधार मात्र कोरी कल्पना नहीं है, इसके पीछे ऐतिहासिक आधार है। (स्व. पं. रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' का पृष्ठ 94)

भारत के ग्रन्थ : इस संदर्भ में अथर्ववेद का मंत्र संख्या 10.7.9 दर्शनीय है। इसमें कहा गया है कि भूत भविष्यमय कालरूपी घर एक सहस्र स्तम्भों पर खड़ा किया गया है। अनेक विद्वानों का मानना है कि इन स्तम्भों के आलंकारिक वर्णन से एक कल्प में होने वाली एक सहस्र चतुर्युगियों का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद का 8.2.21 भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें कल्प के वर्षों की जो संख्या बताई गई है, वह इस प्रकार है– 'शतं ते अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारिकृण्मः' अर्थात सौ अयुत वर्षों के आगे 2, 3 और 4 लिखने से कल्प की वर्ष संख्या आएगी। अयुत दस हजार का होता है, अतः सौ अयुत का मान 10 लाख या एक मिलियन हुआ। उसके आगे 2, 3 और 4 (अंकानां वामतो गति के अनुसार) लिखने पर कल्प की वर्ष संख्या 4,32,00,00,000 बनती है। यही संख्या एक सहस्र चतुर्युगियों के वर्षों की होती है।

चारों युगों के नामों के संदर्भ में यजुर्वेद के 30.18 की शरण में जाया जा सकता है, यथा– 'कृतायादिनवदर्ष त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनम् आस्कन्दाय सभास्थाणुम्''। इस मंत्र में कृत्युग (सत्युग) त्रेता, द्वापर और आस्कन्द (कलियुग) चारों युगों के नामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

कालगणना के संदर्भ में विभिन्न भारतीय ग्रन्थों में यह तो बताया ही गया है कि कौन सा युग किस मास की कौन सी तिथि से प्रारम्भ होता है। महाभारत के वन पर्व के 118.67 में यह भी बताया गया है कि कलि प्रारम्भ में सात ग्रह एक युति में आ जाते हैं।

कहने का भाव है कि नक्षत्रों की गति पर आधारित भारतीय कालगणना के कालमानों की पुष्टि ईरान, बेबिलोनिया, स्कैण्डेविया आदि देशों के प्राचीन ग्रन्थों में आए उल्लेखों से ही नहीं भारत के वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित कालमान के ब्योरों से भी होती है, अतः उसकी मान्यता पर प्रश्नचिन्ह् लगाना न्यायसंगत नहीं है। यह भ्रान्ति भी जानबूझ कर अंग्रेजी सत्ता द्वारा फैलाई गई थी।

प्रागैतिहासिक काल की अवधारणा

किसी भी देश, भाषा, साहित्य या संस्कृति के इतिहास लेखन का एक महत्वपूर्ण तत्त्व उसका काल–निर्धारण होता है, क्योंकि काल विशेष में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार आए बदलाव का विश्लेषण करके लेखक इनके उत्कर्ष–अपकर्ष, विकास–ह्रास, वैभव–पराभव का निष्कर्ष निकालकर इन पर विचार प्रकट करता है। भारतवर्ष में ऐतिहासिक दृष्टि से काल–निर्धारण की वैज्ञानिक आधारों पर एक सुदीर्घ और पुष्ट परम्परा विद्यमान रही है किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातन काल से चलते आ रहे काल–निर्धारण के सिद्धान्त को अर्थात भारतीय कालगणना को अतिरंजित एवं अस्वाभाविक मानकर उसे अस्वीकार करके उसके स्थान पर अपनी काल–निर्धारण की पद्धति, जो मात्र कल्पना प्रसूत होने के कारण

अत्यन्त ही अपुष्ट और अवैज्ञानिक थी, को मान्यता दी और उसके आधार पर भारतीय इतिहास में प्रागैतिहासिक काल की अवधारणा की। जबकि भारत के इतिहास में इस नाम का कोई काल है ही नहीं क्योंकि यहाँ तो सृष्टि–प्रारम्भ से ही उसके विकास का इतिहास सुलभ है।

'प्रागैतिहासिकता' का शाब्दिक अर्थ इतिहास से पूर्व के काल की स्थिति से है। 'इतिहास से पूर्व काल की स्थिति से' आधुनिक इतिहासकारों का अभिप्राय आदिमानव के भू–अवतरण और उसके बाद के उस प्रारम्भिक काल की स्थिति से है, जिसके सम्बन्ध में जानने, परखने और समझने के लिए आज उनके पास वह सब सामग्री, यथा– सिक्के, मोहरें, अभिलेख, पुरातन अवशेष आदि जो इतिहास जानने के प्रमुख साधन माने जाते हैं, सुलभ नहीं है किन्तु यह सब सामग्री उनको मानव जीवन की केवल भौतिक प्रगति की स्थिति का ही परिचय दे सकती है, उसकी धार्मिक और अध्यात्मिक प्रगति का नहीं। इस प्रगति के परिचय के लिए प्राचीन साहित्य चाहिए, जो भारतवर्ष के अलावा अन्य किसी भी देश में आज सुलभ नहीं है किन्तु उस साहित्य को आज के इतिहासकार 'मिथ' कहते आ रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आदि मानव के भू–अवतरण काल और उसके बाद के जिस काल के साहित्य को 'मिथ' की कोटि में डाला जा रहा है उसको ही प्रागैतिहासिक काल का नाम दिया गया है। जबकि भारत के इतिहास में ऐसा कोई काल रहा ही नही क्योंकि यहाँ तो उस समय से इतिहास सुलभ है, जबकि सृष्टि के आरम्भ में भारत के 'आत्म–भू' और 'यूनानियों के आदम' अर्थात आदि मानव अथवा ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ था। 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'पद्म' आदि पुराणों में सृष्टि निर्माण की चर्चा के संदर्भ में लिखा है कि पहले पृथ्वी एक द्वीपा थी, बाद में चतुर्द्वीपा हुई और उसके बाद में सप्तद्वीपा हो गई। आज इसी बात को 'कान्टीनेन्टल ड्रिफ्टिंग थ्यॉरी' (महाद्वीपीय विचलन सिद्धान्त) कहा जाता है। पुराणों के अनुसार द्वीपों का विचलन शंकर के ताण्डव से जुड़ा है। शंकर के नृत्य करते समय पैरों की धमक से ही द्वीपों का विचलन होता है।

यही नहीं, भारत के प्राचीन साहित्य में तो इस सृष्टि से पूर्व की सृष्टि का उल्लेख भी मिलता है। सृष्टि का विलय प्रलय के काल में ही होता है। भारतीय साहित्य में प्रलय भी कई प्रकार की बताई गई है। कभी नैमित्तिक प्रलय होती है तो कभी प्राकृत प्रलय और कभी आत्यंतिक प्रलय। प्राकृत प्रलय की स्थिति में न सत रहता है न असत, न भूमि रहती है न पाताल, न अन्तरिक्ष रहता है न स्वर्ग, न रात का ज्ञान रहता है और न दिन का। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उस समय ब्रह्म की सत्ता के अलावा कुछ भी विद्यमान नहीं रहता। प्रलय काल में सब कुछ नष्ट हो जाने पर एक निश्चित कालावधि के बाद नई सृष्टि का निर्माण होता है, उसका सम्बंध पूर्व सृष्टि से अवश्य रहता है। पूर्व सृष्टि का ज्ञान हमें ऋग्वेद के मंत्र 10.190.1–2 से होता है– ''तब प्रलय हो गई। .... तदनन्तर ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व (सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि) को पहले की तरह फिर से बनाया।''

भारतीय दृष्टि से काल की कोई सीमा नहीं है, वह अनन्त है। जिस भारतवर्ष में सृष्टि के प्रलय और निर्माण के सम्बन्ध में इतनी सूक्ष्मता, गहनता और गम्भीरता से विचार किया गया हो और जहाँ इस सृष्टि के निर्माण काल से ही नहीं पिछली सृष्टि का विवरण भी रखा गया हो, वहाँ के इतिहास में प्रागैतिहासिकता की अवधारणा करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वैज्ञानिकता के नाम पर ऐतिहासिक तथ्यों की उलट–फेर

भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने की प्रक्रिया में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैज्ञानिकता के नाम पर भारतीय इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, धर्म–दर्शन और साहित्य की श्रेष्ठता और प्राचीनता को कम से कम करके आंकने के भी घनघोर प्रयास किए गए। इन प्रयासों के अन्तर्गत बड़े–बड़े इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ऐसे अनेक मिथ्या तर्क दिए हैं, अनेक मिथ्या आधारों की स्थापनाएँ कीं और अनेक मिथ्या कल्पनाएँ तथा विवेचनाएँ कीं, जो नितान्त बाल बुद्धि जैसी लगती हैं।

भारत के प्रसिद्ध पुरातात्त्विक श्री बी. बी. लाल ने वैज्ञानिक आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास का काल–निर्धारण करते हुए महाभारत युद्ध को 836 ई. पू. में हुआ माना है। महाभारत युद्ध के लिए इस काल को निर्धारित करने की प्रक्रिया का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए श्री लाल ने कहा है कि भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल में दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बहादुरशाह जफर तक 47 मुस्लिम बादशाह हुए हैं और उन्होंने कुल 652 वर्ष राज्य किया है। इस हिसाब से प्रति राजा का औसत राज्यकाल 13.9 अर्थात 14 वर्ष बनता है। इसी आधार पर परीक्षित से लेकर उदयन तक हुए 24 राजाओं का राज्यकाल उन्होंने 24 x 14 = 336 वर्ष माना है। उदयन का समय उन्होंने 500 ई. पू. कल्पित किया है क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में उदयन को गौतमबुद्ध का लगभग समकालीन माना गया है। अतः 500 ई. पू. में 336 वर्ष जोड़कर 836 ई. पू. वर्ष बनाकर इसे महाभारत का काल माना है। जबकि वास्तव में महाभारत का युद्ध उस समय से बहुत पहले हुआ था।

डॉ. के. एम. मुन्शी के निरीक्षण में और डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार के प्रधान सम्पादकत्व में तैयार 'दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन प्यूपिल' ने तो वैज्ञानिकता के नाम पर भारत के इतिहास के संदर्भ में और भी खिलवाड़ किया है। इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह उससे बहुत भिन्न नहीं है जो पाश्चात्य इतिहासकारों ने लिखा है।

जहाँ तक महाभारत युद्ध का काल जानने के लिए उसे हजारों–हजारों वर्ष बाद पैदा हुए मुसलमान बादशाहों के औसत राज्यकाल को आधार बनाने का प्रश्न है तो इसका उत्तर तो श्री लाल ही जानें किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता ही है कि उनके मस्तिष्क में यह बात क्यों नहीं आई कि प्राचीन काल में दीर्घ जीवन भारत की एक विशिष्टता रही है। उस काल का औसत भारतीय राजा काफी समय बाद के औसत मुसलमानी बादशाह से काफी अधिक काल तक जीवित रहा होगा। भारत के लोगों के दीर्घ जीवन के बारे में मेगस्थनीज आदि यूनानी विद्वानों के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं–

1. भारतीयों को न कभी सरदर्द, न दन्तशूल और न अन्य बीमारियाँ होती थीं। न ही शरीर के किसी भाग में अल्सर होता था। वे 120, 130, 150 वर्ष तक जीते थे। कोई–कोई तो 200 वर्ष तक भी जीते थे। (एरियन की – इण्डिका' का XII, XV और फैग XXII - सी – टीशियस की 'एनशिएंट इण्डिया', अनुवादक – जे. डब्ल्यु. मैकक्रिण्डले, पृष्ठ 18)

यदि आज से 2300 वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज निरोग रहकर 200 वर्ष तक जीवित रहते थे तो 5000 या 6000 वर्ष पूर्व तो वे और भी अच्छी तरह से तथा और भी लम्बी आयु तक जीवित रहते होंगे। अतः मुसलमानी काल की इस प्रकार की औसत निकालकर प्राचीन भारतीय राजाओं के राज्यकाल को निकालना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि विजयनगर का 'रामराजा' 96 वर्ष की आयु में तालिकोट की युद्धभूमि पर गया था और पंवार वंश के राजा गंगासिंह ने मोहम्मद गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को युद्ध में 90 वर्ष की आयु में सहयोग दिया था। यही नहीं, महाभारत के युद्ध के समय आचार्य द्रोण और महाराजा द्रोपद की आयु लगभग 300 वर्ष, पितामह भीष्म की आयु 170–180 वर्ष तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन की आयु 88 वर्ष मानी जाती है।

अर्वाचीन और प्राचीन काल में कतिपय भारतीयों के आयु मान के उक्त उदाहरणों के समक्ष 14 वर्ष की औसत से उस समय के राजाओं की आयु निकालने की वैज्ञानिकता सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं हो पाती। लगता है यह सब कुछ भारतीय इतिहास को विकृत करने की दृष्टि से किया/कराया गया है।

विविध

ऐतिहासिक महापुरुषों की तिथियाँ

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास के लिए निर्धारित तिथिक्रम के आधार पर किसी भी ऐतिहासिक महापुरुष की जन्मतिथि और महान सम्राट के राज्यारोहण की तिथि पर विचार किया जाता है तो वह असंगत लगती है। इस खण्ड में कतिपय ऐसे ही ऐतिहासिक महापुरुषों की जन्मतिथियों और सम्राटों के राज्यारोहण की तिथियों के विषय में विचार किया जा रहा है –

(क) गौतम बुद्ध का आविर्भाव 563 ई. पू. में हुआ

गौतम बुद्ध का आविर्भाव भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है किन्तु यह खेद का ही विषय है कि उनकी जन्म और महानिर्वाण की तिथियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी भारतवर्ष में सुलभ नहीं है। हाँ, यह जानकारी तो विभिन्न स्रोतों से अवश्य मिल जाती है कि वे 80 वर्ष तक जीवित रहे थे। देश–विदेश में प्रचलित बौद्ध परम्पराओं से भी उनके जन्म और महानिर्वाण के सम्बंध में प्रामाणिक तिथियाँ नहीं मिल पाई हैं। हर जगह ये तिथियाँ अलग–अलग ही बताई जाती हैं।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने गौतम बुद्ध का जन्म वर्ष निकालने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के लिए कल्पित तिथि 320 ई. पू. में से उसके और उसके पुत्र बिन्दुसार के राज्यकालों के वर्षों को घटाकर अशोक का राज्यारोहण वर्ष 265 ई. पू. निकाला है। इस 265 ई. पू. में 218 वर्ष जोड़कर गौतम बुद्ध के महानिर्वाण का वर्ष 265 + 218 = 483 ई. पू. निश्चित किया है क्योंकि सीलोन के क्रोनिकल महावंश में लिखा हुआ है कि गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के 218 वर्ष बाद अशोक का राज्यारोहण हुआ था। इसी को आधार मानकर 483 ई. पू. में गौतम बुद्ध की पूर्ण आयु के 80 वर्ष मिलाकर 483 + 80 = 563 ई. पू. को उनके जन्म का वर्ष माना गया है। जबकि ऐसे अनेक विद्वान हैं जो इस तिथि को सही नहीं मानते। विगत दो शताब्दियों से लगातार प्रयासों के बावजूद गौतम बुद्ध के जन्म की तिथि निश्चित नहीं हो सकी है।

19वीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने बुद्ध के काल–निर्धारण के संदर्भ में 25वीं शताब्दी ई. पू. से 5वीं शताब्दी ई. पू. तक की अनेक तिथियाँ एकत्रित की थीं, जिनका डॉ. विल्सन ने विश्लेषण किया था। श्रीराम साठे ने 'डेट्स ऑफ बुद्धा' के पृष्ठ 2 से 4 तक डॉ. विल्सन की तिथियों के साथ प्रिन्सेप तथा कुछ अन्य लोगों द्वारा दी गई तिथियाँ भी दी हैं। उनसे ज्ञात होता है कि–

- बुद्ध की तिथियों, यथा– 2500 ई. पू. और 563 ई. पू. में लगभग 2000 वर्ष का अन्तराल है।
- पदमाकरपो (भूटानी लामा) और भारतीय स्रोतों के आधार पर निकाली गईं क्रमशः 1858 ई. पू. और 1807 ई. पू. की तिथियों में परस्पर अन्तर बहुत कम है।
- कल्हण के नाम से दी गई 1332 ई. पू. की तिथि भी भ्रमपूर्ण ही लगती है। कारण 'राजतरंगिणी' में गौतम बुद्ध का महानिर्वाण तुरुष्क वंश के राज्यारम्भ से 150 वर्ष पूर्व माना है और तुरुष्क वंश का समय 1294–1234 ई. पू. के बीच में बैठता है। इसके हिसाब से गौतम बुद्ध की महानिर्वाण की तिथि 1294 + 150 + 80 = 1524 ई. पू. की बैठती है।
- अधिकतर विद्वान 1027 ई. पू. की तिथि पर सहमत हैं।

संदर्भित तिथियों को महानिर्वाण की तिथियाँ मानकर उनमें 80 वर्ष (बुद्ध का जीवन काल) जोड़ने पर जो तिथियाँ बनती हैं वे भी वर्तमान में प्रचलित भारत के इतिहास में बुद्ध के जन्मकाल के लिए दी गई 563 ई. पू. से मेल नहीं खातीं।

भारतीय पुराणों से मिली विभिन्न राजवंशों के राजाओं के राज्यारोहण की तिथियों के आधार पर जो जानकारी मिलती है, उसके हिसाब से गौतम बुद्ध का जन्म 1886–87 ई. पू. में बैठता है। वे महाभारत युद्ध के पश्चात मगध की गद्दी पर बैठने वाले तीसरे राजवंश–शिशुनाग वंश के चौथे, पाँचवें और छठे राजाओं के राज्यकाल में, यथा– 1892 से 1787 ई. पू. के बीच में हुए थे।

ऐसा भी कहा जाता है कि गौतम बुद्ध का महाप्रस्थान अजातशत्रु के राज्यारोहण के 8 वर्ष बाद हुआ था अर्थात 1814 – 8 = 1806 ई. पू. में हुआ था। श्रीलंका में सुलभ विवरणों से भी ऐसी ही जानकारी मिलती है कि बुद्ध का महानिर्वाण अजातशत्रु के राज्यारोहण के 8 वर्ष बाद हुआ था। इस विषय में तो सभी एकमत हैं कि गौतम बुद्ध 80 वर्ष तक जिए थे। अतः उनका जन्म 1806 + 80 = 1886 (1887) ई. पू. में

हुआ होगा। यह समय क्षेत्रज के राज्यकाल का था जोकि शिशुनाग वंश का चौथा राजा था। जबकि वर्तमान इतिहासज्ञों द्वारा जो तिथि गौतम बुद्ध के जन्मकाल की दी गई है, वह 563 ई. पू. है।

उक्त भारतीय विवरणों के आधारों पर बुद्ध के जन्म के लिए बनी तिथियों और प्रचलित तिथि (563 ई. पू.) में भी काफी (लगभग 1300 वर्षों का) अन्तर आता है।

(ख) आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य 788 ई. में अवतरित हुए

आचार्य शंकर के जन्मकाल में भी लगभग 1300 वर्ष का ही अन्तर पाश्चात्य और भारतीय आधारों से आता है। पाश्चात्य विद्वानों ने यूँ तो आचार्य शंकर के जन्म के सम्बन्ध में बहुत सारी तिथियाँ दी हैं किन्तु अधिकतर विद्वान 788 ई. पर सहमत हैं। (इस संदर्भ में विस्तृत जानकारी के लिए सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली–6 द्वारा प्रकाशित लेखक की पुस्तक 'भारतीय एकात्मता के अग्रदूत आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य' देखें) जबकि भारतीय (शंकर मठ) परम्परा के अनुसार उनका जन्मकाल 509 ई. पू. बनता है। द्वारका और कांची कामकोटि पीठ के पीठाधिपतियों की सूचियों में प्रत्येक आचार्य का नाम, गद्दी पर बैठने का वर्ष और कितने वर्ष वे गद्दी पर रहे, इन सबका पूरा वर्णन दिया गया है। आचार्य शंकर की जन्मतिथि की दृष्टि से वे सूचियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं।

अन्तर्साक्ष्य अर्थात आचार्य जी की अपनी रचनाओं के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपनी किसी भी रचना में न तो अपने सम्बन्ध में और न ही किसी रचना विशेष के रचनाकाल के सम्बन्ध में ही कुछ लिखा है। आचार्य शंकर के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने समस्त साहित्य में कहीं भी यवनों के आक्रमण और भारत में उनके निवास के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है जबकि अनेक विद्वानों द्वारा आचार्य जी का आविर्भाव काल ईसा की आठवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी तक माना गया है। यदि आचार्य जी इस अवधि में अवतरित हुए होते तो उनकी किसी न किसी रचना में किसी न किसी रूप में मुसलमानों का उल्लेख अवश्य रहा होता क्योंकि मुसलमानों के सिन्ध प्रदेश पर आक्रमण ईसा का 7वीं शताब्दी के अन्त में होने शुरू हो गए थे एवं आक्रमण के पश्चात काफी मुसलमान वहीं रहने भी लगे थे। कोई भी विचारक या लेखक अपनी समकालीन स्थितियों से आँख मूंदकर नहीं रह सकता। उसकी रचनाओं में तत्कालीन स्थिति का उल्लेख किसी न किसी रूप में आ ही जाता है। अतः यह तो निश्चित है कि आचार्य जी का जन्म छठी शताब्दी से पूर्व ही हुआ है। यदि ऐसा है तो स्वामी चिद्सुखाचार्य जी की रचना, मठों की आचार्य–सूचियाँ, पौराणिक तिथिक्रम आदि पुष्ट आधारों पर निर्मित 509 ई. पू. को ही शंकराचार्य जी की जन्म तिथि मानना उचित होगा। इस तिथि की पुष्टि 'नेपाल राजवंशावली' से भी होती है।

(ग) अशोक ने 265 ई. पू. में शासन संभाला

सम्राट अशोक को भारत के इतिहास में ही नहीं विश्व के इतिहास में जो महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है, वह सर्वविदित है। आज अशोक का नाम संसार के महानतम व्यक्तियों में गिना जाता है। इसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण उसके द्वारा चट्टानों और प्रस्तर स्तम्भों पर लिखवाए गए वे अजर–अमर शिलालेख हैं, जो सम्पूर्ण राज्य में इतस्ततः विद्यमान रहे हैं किन्तु उनसे उसके व्यक्तिगत जीवन अर्थात जन्म, मरण, माता–पिता के नाम, शासनकाल आदि के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी सुलभ नहीं हो पाती। यह भी उल्लेखनीय है कि उन शिलालेखों में से अशोक का नाम केवल एक ही छोटे शिलालेख में मिलता है। शेष पर तो 'देवानांप्रिय' शब्द ही आया है। अतः इससे यह पता नहीं चल पाता कि यह नाम वास्तव में कौन से अशोक का है क्योंकि भारत में भिन्न–भिन्न कालों में अशोक नाम के चार राजा हुए हैं, यथा–

पहला अशोक – कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार कश्मीर के राजाओं की सूची में 48वें राजा का नाम 'अशोक' था, जो कि कनिष्क से तीन पीढ़ी ऊपर था। वह कश्मीर के गोनन्द राजवंश का था और उसको धर्माशोक भी कहते थे।

दूसरा अशोक – पुराणों के अनुसार मौर्य वंश का तीसरा राजा अशोकवर्धन था। यह चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र था। इसने बाद में बौद्ध धर्म अपनाकर धर्म–प्रचार के लिए बहुत कार्य किया था।

तीसरा अशोक – गुप्त वंश के दूसरे राजा समुद्रगुप्त ने अपना उपनाम अशोकादित्य रखा हुआ था। अनेक स्थानों पर उसको मात्र 'अशोक' ही कहा गया है। वह बड़ा ही साहसी तथा वीर राजा था। उसने सम्पूर्ण देश में बड़े व्यापक स्तर पर विजय अभियान चलाया था।

चौथा अशोक – पुराणों के अनुसार शिशुनाग वंश के दूसरे राजा का नाम अशोक था। वह शिशुनाग का पुत्र था। उसका रंग अधिक काला होने से उसे कालाशोक या 'काकवर्णा' नाम से भी पुकारा जाता था।

बौद्ध ग्रन्थों में यद्यपि अशोक के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु उनके वर्णन एक–दूसरे से भिन्न हैं। इस संदर्भ में आचार्य रामदेव का कहना है कि बौद्ध लेखकों ने अशोकादित्य (समुद्रगुप्त) और गोनन्दी अशोक (कश्मीर) दोनों को मिलाकर एक चक्रवर्ती अशोक की कल्पना कर ली है। ('भारतवर्ष का इतिहास', तृतीय खण्ड, प्रथम भाग, पृ. 41)

इस स्थिति में यह निष्कर्ष निकाल पाना कि इनमें से बौद्ध धर्म–प्रचारक देवानांप्रिय अशोक कौन सा है, कठिन है । जहाँ तक अशोक के 265 ई. पू. में गद्दी पर बैठने की बात है, इस सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं –

मैक्समूलर – 850 ई. पू. (चीनी विवरण) और 315 ई. पू. (सीलोनी विवरण)
फ्लीट – 1260 ई. पू. (राजतरंगिणी)
भारतीय कालगणना – 1472 ई. पू.

यहाँ उल्लेखनीय है कि पौराणिक कालगणना के अनुसार अशोक मौर्य के राज्य के लिए निकले 1472 से 1436 ई. पू. के काल में और 'राजतरंगिणी' के आधार पर धर्माशोक के लिए निकले राज्यकाल 1448 से 1400 ई. पू. में कुछ–कुछ समानता है। जबकि भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने वाले इतिहासकारों द्वारा निकाले गए 265 ई. पू. के काल से कोई समानता ही नहीं है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान इतिहासकारों द्वारा अशोक के सम्बन्ध में निर्धारित काल–निर्णय भी बहुत उलझा हुआ है। अतः 265 ई. पू. में वह गद्दी पर बैठा ही था, यह निश्चित रूप से नहीं माना जा सकता। जहाँ तक आधुनिक रूप में भारत का इतिहास लिखने वालों और भारतीय पौराणिक आधार पर कालगणना करने वालों की अशोक के राज्यारोहण की तिथि का प्रश्न है, दोनों में लगभग 1200 वर्ष का अन्तर आ जाता है।

(घ) कनिष्क का राज्यारोहण 78 ई. में हुआ

कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य और भारतीय आधारों पर निकाले गए कालखण्डों में गौतम बुद्ध आदि की तरह लगभग 1300 वर्ष का ही अन्तर आता है। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि 78 ई. निश्चित की गई है जबकि पं. कोटावेंकटचलम द्वारा 'क्रोनोलोजी ऑफ कश्मीर हिस्ट्री रिकन्सट्रक्टेड' में दिए गए 'राजतरंगिणी' के ब्योरों के अनुसार कनिष्क ने कश्मीर में 1254 ई. पू. के आसपास राज्य किया था।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अन्य तिथियों की भ्रान्ति के लिए तो कोई न कोई कारण आज का इतिहासकार दे भी रहा है किन्तु कनिष्क के सम्बन्ध में तिथि की भ्रान्ति का कोई निश्चित उत्तर उसके पास नहीं है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार का कहना है –

''कनिष्क की तिथि भारतीय तिथिक्रम की सबसे उलझी हुई समस्या है। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु नए प्रमाणों के अभाव में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।.....'' (डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार कृत 'प्राचीन भारत' पृ. 101 – पाद टिप्पणी)

चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और कनिष्क की जोन्स आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित तिथियों के संदर्भ में श्री ए. बी. त्यागराज अय्यर की 'इण्डियन आर्कीटेक्चर' का निम्नलिखित उद्धरण भी ध्यान देने योग्य है –

''एथेन्स में कुछ समय पूर्व एक समाधि मिली थी, उस पर लिखा था कि– 'यहाँ बौद्धगया के एक श्रवणाचार्य लेटे हुए हैं। एक शाक्य मुनि को उनके यूनानी शिष्य द्वारा ग्रीक देश ले जाया गया था। समाधि में स्थित शाक्य मुनि की मृत्यु 1000 ई. पू. में बताई गई है।' यदि शाक्य साधु को 1000 ई. पू. के आसपास यूनान ले जाया गया था तो कनिष्क की तिथि कम से कम 1100 ई. पू. और अशोक की 1250 ई. पू. और चन्द्रगुप्त मौर्य की 1300 ई. पू. होनी चाहिए। यदि यह बात है तो जोन्स की धारणा कि यूनानी साहित्य का सेंड्रोकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य सेल्युकस निकेटर का समकालीन था, जिसने 303 ई. पू. में भारत पर आक्रमण किया था, एकदम निराधार और अनर्गल है।'' ('दि प्लाट इन इण्डियन क्रोनोलोजी' पृ. 9)

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कनिष्क के राज्यारोहण के संदर्भ में दी गई तिथि भी मात्र एक भ्रान्ति ही है। भारतीय इतिहास की महानतम विभूतियों की तिथियों में यह अन्तर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जान–बूझकर डाला गया है ताकि उनके द्वारा पूर्व निर्धारित कालगणना सही सिद्ध हो जाए।

(ङ) विक्रम सम्वत के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं

भारतवर्ष में श्रीराम, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध और आचार्य शंकर के पश्चात यदि किसी का व्यक्तित्व सर्वाधिक विख्यात रहा है तो वह उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का रहा है किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस राजा की इतनी प्रसिद्धि रही हो उसे कल्पना जगत का वासी मानकर पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही नकार दिया है।

उज्जैनी के महाराजा विक्रमादित्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को नकारने से पूर्व निम्नलिखित तथ्यों पर विचार कर लिया जाना अपेक्षित था, यथा–

भारत का पौराणिक महापुरुष हैं – महाराजा विक्रमादित्य का सविस्तार वर्णन भविष्य, स्कन्द आदि पुराणों में दिया गया है। भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के प्रथम खण्ड में दिए गए ब्योरे के अनुसार विक्रमादित्य ईसवी सन के प्रारम्भ में जीवित थे। उनका जन्म कलि के 3000 वर्ष बीत जाने पर 101 ई. पू. में हुआ था और उन्होंने 100 वर्ष तक राज्य किया था। (गीता प्रेस, गोरखपुर, 'संक्षिप्त भविष्य पुराण', पृ. 245)

साहित्यिक रचनाओं का अमर नायक है – भारत की संस्कृत, प्राकृत, अर्द्धमागधी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं के ग्रन्थों में विक्रमादित्य से सम्बंधित ऐसे अनेक विवरण मिलते हैं जिनमें उसकी वीरता, उदारता, दया, क्षमा आदि गुणों की अमर गाथाएँ भरी हुई हैं।

दन्तकथाओं और लोकगीतों का प्रेरणापुंज है – देश के विभिन्न भागों में स्थानीय भाषाओं में ही नहीं बोलियों में भी ऐसी अनेक दन्तकथाएँ, लोकगाथाएँ, लोकगीत प्रचलित हैं जिसमें बड़े व्यापक रूप में विक्रमादित्य के भिन्न–भिन्न गुणों का गान किया गया है।

सम्वत का प्रवर्तक है – देश में एक नहीं अनेक विद्वान ऐसे हैं जो 57 ई. पू. में प्रवर्तित हुए विक्रम सम्वत को उज्जैनी के राजा विक्रमादित्य द्वारा ही प्रवर्तित मानते हैं। भारतवर्ष में कलि सम्वत के समान ही इस सम्वत का प्रयोग सब क्षेत्रों में किया जाता है।

इस सम्वत के प्रवर्तन की पुष्टि 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ से होती है। जो कि 3068 कलि अर्थात 34 ई. पू. में लिखा गया था। इसके अनुसार विक्रमादित्य ने 3044 कलि अर्थात 57 ई. पू. में विक्रम सम्वत चलाया था।

भारत का ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व है – कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार 14 ई. के आसपास कश्मीर में अंध युधिष्ठिर के वंश के राजा हिरण्य के निःसन्तान मर जाने पर अराजकता फैल गई थी

जिसको देखकर वहाँ के मंत्रियों की सलाह पर उज्जैनी के राजा विक्रमादित्य ने मातृगुप्त (जिसे कई लोग कालीदास भी मानते हैं) को कश्मीर का राज्य सम्भालने के लिए भेजा था।

'नेपाल राजवंशावली' में भी नेपाल के राजा अंशुवर्मन के समय (ईसा पूर्व पहली शताब्दी) में उज्जैनी के विक्रमादित्य के नेपाल आने का उल्लेख किया गया है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि विक्रमादित्य ने नेपाल के राजा को अपने अधीन सामन्त का पद स्वीकार करने के लिए कहा था। कुछ लोगों का ऐसा भी मानना है कि विक्रमादित्य ने विक्रम सम्वत की स्थापना नेपाल में ही की थी।

बाबू वृन्दावनदास 'प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य' में लिखते हैं कि उज्जैन के सम्राट विक्रमादित्य ने ही विक्रम सम्वत की स्थापना 57 ई. पू. में की थी। उनका यह भी कहना है कि– ''भारत में अन्य सभी सम्राटों, जिनके नाम के साथ विक्रमादित्य लगा हुआ है, यथा– श्रीहर्ष, शूद्रक, हल, चन्द्रगुप्त द्वितीय, शिलादित्य, यशोधर्मन आदि, ने 'विक्रमादित्य' को उपाधि के रूप में ग्रहण किया है, जबकि उज्जैनी के इस राजा का मूल नाम ही विक्रमादित्य है। उपाधि के स्थान पर मूल नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है।''

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि पाश्चात्योन्मुखी आधुनिक भारतीय इतिहासकारों की यह बात मान ली जाती है कि ईसा पूर्व और ईसा बाद की पहली शताब्दियों में कोई विक्रमादित्य नहीं हुआ तो अरब देश के उस कवि की कविता का क्या उत्तर होगा जिसे उसने मोहम्मद साहब के जन्म से 165 वर्ष पूर्व लिखा था। उस कविता का हिन्दी अनुवाद जो विक्रम सम्वत के 2000 वर्षों के पूर्ण होने के उपलक्ष्य में 1946 ई. में मनाए गए उत्सव के स्मृति अंक में दिया गया था, इस प्रकार है–

''भाग्यशाली हैं वे, जो विक्रमादित्य के शासन में जन्मे या जीवित रहे। वह सुशील, उदार, कर्तव्य परायण शासक, प्रजाहित में दक्ष था, पर उस समय अरब परमात्मा का अस्तित्त्व भूलकर वासनासक्त जीवन बिता रहा था किन्तु उस अवस्था में सूर्योदय जैसा ज्ञान और विद्या का प्रकाश दयालु विक्रम राजा की देन थी, जिसने पराए होते हुए भी हमसे कोई भेद नहीं बरता जिसने निजी पवित्र (वैदिक) संस्कृति हम में फैलाई और निजी देश से विद्वान, पंडित और पुरोहित भेजे ...... पवित्र ज्ञान की प्राप्ति हुई और सत्य का मार्ग दिखाया।''

यह कविता मूल रूप में सुलतान सलीम के काल (1742 ई.) में तैयार 'सैरउलओकुन' नाम के अरबी काव्य संग्रह से ली गई है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पाश्चात्य विद्वानों ने जिस विक्रमादित्य के व्यक्तित्त्व को ही नकार दिया है उसके विषय में भविष्य पुराण, ज्योतिर्विदाभरण, सिद्धान्त शिरोमणि (भास्काराचार्य), नेपाल राजवंशावली, राजतरंगिणी, महावंश, शतपथ ब्राह्मण की विभिन्न टीकाएँ, बौद्ध ग्रन्थ, जैन ग्रन्थ तथा अनुश्रुतियाँ आदि भारतीय ऐतिहासिक स्रोत एकमत हैं। अतः लगता है कि यह स्थिति भारत के इतिहास को विकृत करने के लिए जान बूझकर लाई गई है।

सरस्वती नदी का कोई अस्तित्व नहीं

भारत के पुरातन साहित्य में, यथा– वेदों, पुराणों आदि में ही नहीं रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत् सरीखे ग्रन्थों में भी सरस्वती का स्मरण बड़ी गरिमा के साथ किया गया है। भारत भू के न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक ही वरन् ऐतिहासिक आदि परिवेशों में भी सरस्वती का बड़ा महत्त्व दर्शाया गया है। इस नदी के साथ भारतवासियों के अनेक सुखद और आधारभूत सम्बन्ध रहे हैं। इसके पावन तट पर भारतीय जीवन पद्धति के विविध आयामों का विकास हुआ है। इसके सान्निध्य में वेदों का संकलन हुआ है। ऋग्वेद के 2.41.16 में इसका उल्लेख मातृशक्तियों में सर्वोत्तम माता, नदियों में श्रेष्ठतम नदी और देवियों में सर्वाधिक महीयशी देवी के रूप में हुआ है–

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वती ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ।।

यह 6 नदियों की माता सप्तमी नदी रही है। यह 'स्वयं पयसा' (अपने ही जल से भरपूर) और विशाल रही है। यह आदि मानव के नेत्रोन्मीलन से पूर्व–काल में न जाने कब से बहती आ रही थी। वास्तव में सरस्वती नदी का अस्तित्व ऋग्वेद की ऋचाओं के संकलन से बहुत पहले का है। ऐसी महत्वपूर्ण नदी के आज भारत में दर्शन न हो पाने के कारण आधुनिक विद्वान इसके अस्तित्व को ही मानने से इन्कार करते आ रहे हैं किन्तु इस नदी के अस्तित्व का विश्वास तो तब हुआ जब एक अमेरिकन उपग्रह ने भूमि के अन्दर दबी इस नदी के चित्र खींचकर पृथ्वी पर भेजे। अहमदाबाद के रिसर्च सेन्टर ने उन चित्रों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि शिमला के निकट शिवालिक पहाड़ों से कच्छ की खाड़ी तक भूमि के अन्दर एक सूखी हुई नदी का तल विद्यमान है, जिसकी चौड़ाई कहीं–कहीं 6 कि.मी. है। उनका यह भी कहना है कि उस समय सतलुज और यमुना नदी इसी नदी में मिलती थी। सेटेलाइट द्वारा भेजे गए चित्रों से पूर्व भी बहुत से विद्वान इसी प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँच चुके थे। राजस्थान सरकार के एक अधिकारी एन. एन. गोडबोले ने इस नदी के क्षेत्र में विविध कुओं के जल का रासायनिक परीक्षण करने पर पाया था कि सभी के जल में रसायन एक जैसा ही है। जबकि इस नदी के क्षेत्र के कुओं से कुछ फर्लांग दूर स्थित कुओं के जलों का रासायनिक विश्लेषण दूसरे प्रकार का निकला। अनुसंधान कर्ताओं ने यह भी पाया कि राजस्थान के रेत के नीचे बाढ़ की मिट्टी की मोटी तह है, जो इस बात की प्रतीक है कि यहाँ कोई बड़ी नदी वर्षानुवर्ष तक बहती रही है एवं उसी के कारण यह बाढ़ की मिट्टी यहाँ इकट्ठी हुई है। कुछ दिन पूर्व ही केन्द्रीय जल बोर्ड के वैज्ञानिकों को हरियाणा और पंजाब के साथ–साथ राजस्थान के जैसलमेर जिले में सरस्वती नदी की मौजूदगी के ठोस सबूत मिले हैं। ('दैनिक जागरण', 10.1.2002)

ऐसी स्थिति में यह मान लिया जाना कि सरस्वती नदी का कोई अस्तित्त्व नहीं है उचित नहीं है। निश्चित ही यह भी एक भ्रान्ति ही है, जो भारत के इतिहास को 'विकृत' करने की दृष्टि से जान बूझकर फैलाई गई है।

भारत का शासन समग्र रूप में एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत केवल अंग्रेजों के शासनकाल में आया उससे पूर्व वह कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा

भारतवर्ष के संदर्भ में केन्द्रीय सत्ता का उल्लेख वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों आदि में मिलता है और यह स्वाभाविक बात है कि ग्रन्थों में उल्लेख उसी बात का होता है जिसका अस्तित्त्व या तो ग्रन्थों के लेखन के समय में हो या उससे पूर्व रहा हो। यद्यपि यह भी सही है कि आधुनिक मानदण्डों के अनुसार सत्ता का एक राजनीतिक केन्द्र समूचे देश में कदाचित नहीं रहा किन्तु अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में विभिन्न साम्राज्यों के लिए सार्वभौम या समुद्रपर्यन्त जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस बात के उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं कि अनेक चक्रवर्ती सम्राटों ने अश्वमेध, राजसूय या वाजपेय आदि यज्ञ करके देश में अपनी प्रभुसत्ताएँ स्थापित की थीं। इसी प्रकार से कितने ही सम्राटों ने दिग्विजय करके सार्वभौम सत्ताओं का निर्माण भी किया था। ऐसे सम्राटों में प्राचीन काल के यौवनाश्व अश्वपति, हरिश्चन्द्र, अम्बरीश, ययाति, भरत, मान्धाता, सगर, रघु, युधिष्ठिर आदि और अर्वाचीन काल के महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक मानदण्डों के अनुसार केवल वे ही शासक चक्रवर्ती सम्राट की पदवी पाते थे और वे ही अश्वमेध आदि यज्ञ करने के अधिकारी होते थे, जिनका प्रभुत्व उस समय के ज्ञात कुल क्षेत्र पर स्थापित हो जाता था। प्रकारान्तर से यह प्राचीन भारतीय परिवेश और मानदण्डों के अनुसार केन्द्रीय सार्वभौम सत्ता का ही द्योतक है अतः पाश्चात्यों की उपरोक्त मान्यता तत्त्वतः सही नहीं है।

सांस्कृतिक दृष्टि से तो प्रारम्भ से ही भारत एक राष्ट्र के रूप में रहा है। यहाँ के अवतारी पुरुष, यहाँ के महापुरुष, यहाँ का इतिहास, यहाँ की भाषाएँ, यहाँ के त्यौहार, यहाँ के मठ–मन्दिर, यहाँ की सामाजिक मान्यताएँ, यहाँ के मानबिन्दु आदि देश के सभी भागों, सभी राज्यों और सभी क्षेत्रों के निवासियों

को जहाँ एक संगठित और समान समाज के अंग बनाने में सहायक रहे हैं वहीं उनमें यह भावना भी भरते रहे हैं कि वे सब एक ही मातृभूमि या पितृभूमि की सन्तान हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि राष्ट्र एक सांस्कृतिक अवधारणा है। इस दृष्टि से विचार करने पर पाश्चात्यों तथा उनके परिवेश में ढले–पले भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत यह विचार कि भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में है या यह देश प्रशासनिक दृष्टि से कभी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं रहा, न केवल भ्रामक सिद्ध होता है अपितु इस राष्ट्र के तेजोभंग करने के उद्देश्य से गढ़ा गया प्रतीत होता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक किसी भी दृष्टि से क्यों न हो गहराई से विचार करने पर यह स्वार्थवश और जानबूझ कर फैलाया गया मात्र एक भ्रम लगता है क्योंकि भारत के प्राचीन ग्रन्थ अथर्ववेद में कहा गया है – 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' (अ. 12.1.12) अर्थात यह भूमि हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं। अथर्ववेद के 4.2.5 के अनुसार हिमालय से समुद्र पर्यन्त फैला हुआ क्षेत्र भारत का ही था। विष्णुपुराण के 2.3.1 में कहा गया है– हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर का भाग भारत है और उसकी सन्तान भारतीय हैं।

महाभारत के भीष्म पर्व के अध्याय 9 में भारत भूमि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उसे एक राष्ट्र के रूप में ही चित्रित किया गया है। तमिल काव्य संग्रह 'पाडिट्रूप्पट्ट' में दी गई विभिन्न कविताएँ भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं जिनमें देश का वर्णन कन्याकुमारी से हिमालय तक कहकर किया गया है।

सदियों से ऋषि–महर्षि, साधु–सन्यासी, योगी–परिव्राजक, दार्शनिक–चिन्तक, कवि–लेखक आदि सबने इस देश को सदा–सर्वदा ही एक देश माना है। दक्षिण में पैदा हुए शंकराचार्य कश्मीर और असम क्यों गए और उन्होंने देश के चार कोनों में चार धाम क्यों स्थापित किए ? क्या इसीलिए नहीं कि वे इस देश को एक मानते थे ? असम के सन्त शंकरदेव और माधवदेव ने भी भारतवर्ष की बात की है – ''धन्य–धन्य कलिकाल, धन्य नर तनुमाल धन्य जन्म भारतवरिषे''।

इससे यह निष्कर्ष सहज ही में निकल आता है कि कन्याकुमारी से हिमालय तक फैले समस्त क्षेत्र में रहने वालों के लिए सदा से ही भारतवर्ष जन्मभूमि, कर्मभूमि और पुण्यभूमि रहा है और उनके लिए इस देश का कण–कण पावन, पूज्य और पवित्र रहा है फिर चाहे वह कण भारत के उन्नत ललाट हिमगिरि के धवल हिम शिखरों का हो या कन्याकुमारी पर भारत माँ के चरण प्रक्षालन करते हुए अनन्त सागर की उत्ताल तरंगों का।

भारत की इस समग्रता को और यहाँ के रहने वालों की इस समस्त भूमि के प्रति इस भावना को देखते हुए यह विचार कि भारत का शासन अंग्रेजों के आने से पूर्व समग्र रूप में कभी भी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं रहा और भारत कभी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा, वह तो राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में है, मात्र एक भ्रान्ति ही है जो जान बूझकर फैलाई गई है और आज भी फैलाई जा रही है।

7. निष्कर्ष

पूर्व पृष्ठों में किए गए विवेचन से भारत और उसके इतिहास के संदर्भ में पाश्चात्यों विशेषकर अंग्रेजों की मानसिकता का पूरा–पूरा परिचय मिल जाता है। यही नहीं, तत्कालीन सत्ता द्वारा इस देश में सप्रयास पैदा किए गए उनके समर्थकों ने अपने तात्कालिक लाभ के लिए स्वार्थवश भारत और भारतीयता (देश, धर्म, समाज, इतिहास और संस्कृति) के साथ कैसा व्यवहार किया, इसका भी ज्ञान हो जाता है। ऐसा करने वालों में कोई एक वर्ग विशेष ही नहीं, शासक, रक्षक, शिक्षक, पोषक, संस्कृतज्ञ, इतिहासज्ञ, साहित्यकार आदि सभी वर्ग सम्मिलित रहे हैं। सभी ने अपने–अपने ढंग से भारतीय इतिहास को बिगाड़ने में सत्ता का पूरा–पूरा सहयोग दिया किन्तु गहराई में जाने पर पता चलता है कि सबके पीछे मूल कारण देश की पराधीनता ही रही है।

पराधीनता एक अभिशाप

पराधीन व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र अपना स्वत्त्व और स्वाभिमान ही नहीं अपना गौरव और महत्त्व भी भूल जाते हैं। भारत ने भी परतंत्रता काल में अपनी उन सभी विशिष्टताओं और श्रेष्ठताओं को विस्मृति के अन्धकार में विलीन कर दिया था, जिनके बल पर वह विश्वगुरु कहलाया था। यहाँ पहले मुस्लिम राज्य आया और फिर अंग्रेजी सत्ता, दोनों ने ही अपने–अपने ढंग से देश पर अपना–अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास किया। दोनों ने ही भारत के हर कथ्य और तथ्य को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखकर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अपमूल्यांकन करके उसे कम से कम करके आंका।

अंग्रेजों की दृष्टि में भारतवासियों का मूल्यांकन

भारत में अंग्रेजी सत्ता के आने पर हर अंग्रेज अपने को भारत का राजा समझने लगा था। वह हर भारतवासी को एक गुलाम से अधिक कुछ भी नहीं समझता था, फिर चाहे वह भारत में प्रशासन से सम्बंधित हो या इंग्लैण्ड में सत्ता से अथवा इंग्लैण्ड के साधारण परिवार से। उस समय भारतीयों के बारे में अंग्रेजों के विचार सामान्य रूप में बहुत ही घटिया स्तर के थे। वे भारतीयों को बड़ी तिरस्कृत, घृणास्पद, उपेक्षित और तुच्छ दृष्टि से देखते थे।

ऐसी मानसिकता वाले लोगों की छत्रछाया में पोषित और प्रेरित विद्वानों द्वारा आधुनिक ढंग से लिखा गया भारत का इतिहास, उस भारत को, जो अपनी आन, बान और शान के लिए, अपनी योग्यता, गरिमा और महिमा के लिए, अपने गुरुत्व, गाम्भीर्य और गौरव के लिए प्राचीन काल से ही विश्व के रंगमंच पर विख्यात रहा था, एक ऐसी धर्मशाला के रूप में प्रस्तुत करता है कि जिसमें, जिसने, जब और जहाँ से भी चाहा घुस आया, यहाँ कब्जा जमाया और मालिक बनकर बैठ गया तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं लगती।

भारत का आधुनिक रूप में लिखित इतिहास विजित जाति का इतिहास

वर्तमान में सुलभ भारत का इतिहास अंग्रेजों के शासन में अंग्रेजों के द्वारा या उनके आश्रय में पलने वाले अथवा उनके द्वारा लिखित इतिहासों को पढ़कर इतिहासज्ञ बने लोगों के द्वारा रचा गया है। जब भी विजेता जातियों द्वारा पराधीन जातियों का इतिहास लिखा या लिखवाया गया है तो उसमें विजित जातियों को सदा ही स्वत्त्वहीन, पौरुषविहीन, विखण्डित और पतित रूप में चित्रित करवाने का प्रयास किया गया है क्योंकि ऐसा करवाने में विजयी जातियों का स्वार्थ रहा है। वे विजित जाति की भाषा, इतिहास और मानबिन्दुओं के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न करवाते रहे हैं अथवा उन्हें गलत ढंग से प्रस्तुत करवाते रहे हैं क्योंकि भाषा, साहित्य, इतिहास और संस्कृति विहीन जाति का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता। अतः

पराधीनता के काल में अंग्रेजों द्वारा लिखा या लिखवाया गया भारत का इतिहास इस प्रवृत्ति से भिन्न हो ही नहीं सकता था।

भारत का वास्तविक इतिहास तो मानव जाति का इतिहास

भारत के पुराणों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में सुलभ विवरणों के आधार पर ही नहीं, पाश्चात्य जगत के आज के अनेक प्राणीशास्त्र के ज्ञाताओं, भूगर्भ वैज्ञानिकों, भूगोल के विशेषज्ञों, समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों के मतानुसार भी सम्पूर्ण सृष्टि में भारत ही मात्र वह देश है जहाँ मानव ने प्रकृति–परमेश्वर के अद्भुत, अनुपम और अद्वितीय करिश्मों को निहारने के लिए सर्वप्रथम नेत्रोन्मेष किया था, जहाँ जन्मे हर व्यक्ति ने कंकर–कंकर में शंकर के साक्षात दर्शन किए थे, जहाँ के निवासियों ने सर्वभूतों के हित में रत रहने की दृष्टि से प्राणी मात्र के कल्याण के लिए 'सर्वेभवन्तु सुखिनः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'आत्मवत सर्वभूतेषु' जैसे महान सिद्धान्तों का मात्र निर्माण ही नहीं किया, सहस्रानुसहस्र वर्षों तक उन पर आचरण भी किया और जहाँ के साहित्य–मनीषियों ने वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों उपनिषदों जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों, पुराणों, रामायणों और महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों और गीता जैसे चिन्तन प्रधान ग्रन्थों के रूप में पर्याप्त मात्रा में श्रेष्ठतम ऐसा साहित्य दिया, जिसमें सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक का पूरा इतिहास सुलभ है, जिसमें मानव के उद्भव और विकास के क्रम की विभिन्न सीढ़ियों के साथ–साथ उसके आज की विकसित स्थिति तक पहुँचने का पूरा ब्योरा सुलभ है अर्थात उनमें पूरी मानवता का इतिहास विद्यमान है। यही कारण है कि विश्व के किसी भी क्षेत्र के साहित्य या वहाँ की सभ्यता को लें तो उस पर किसी न किसी रूप में भारत की छाप अवश्य ही मिलेगी। इसीलिए तो भारत के इतिहास को मानव जाति का इतिहास कहा जाता है।

भारतीय परम्पराओं और तथ्यों के विपरीत लिखा गया इतिहास भारत का इतिहास नहीं

किसी भी देश विशेष का इतिहास उस देश से सम्बंधित और उस देश में सुलभ साक्ष्यों के आधार पर ही लिखा जाना चाहिए और ऐसा होने पर ही वह इतिहास उस देश की माटी से जुड़ पाता है। तभी उस देश के लोग उस पर गर्व कर पाते हैं किन्तु भारतवर्ष का आधुनिक रूप में लिखा गया जो इतिहास आज सुलभ है वह भारत के आधारों को पूर्णतः नकार कर और उसके प्राचीन साक्ष्यों को बिगाड़ कर, यथा– कथ्यों की मनमानी व्याख्या कर, उसकी पुरातात्विक सामग्री के वैज्ञानिक विश्लेषणों से निकले निष्कर्षों के मनचाहे अर्थ निकालकर, मनवांछित विदेशी आधारों को अपनाकर लिखा गया है। इसीलिए उसमें ऐसे तत्त्वों का नितान्त अभाव है, जिन पर सम्पूर्ण देश के लोग एक साथ सामूहिक रूप में गर्व कर सके।

आज भारत स्वतंत्र है। यहाँ के नागरिक ही देश के शासक हैं। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के हर नागरिक के मन में भारतीयता की शुद्ध भावना जागृत हो। भारतीयता की शुद्ध और सुदृढ़ भावना के अभाव में ही आज देश को विकट परिस्थितियों में से गुजरना पड़ रहा है। कम से कम आज भारत के प्रत्येक वयस्क नागरिक को यह ज्ञान तो हो ही जाना चाहिए कि वह इसी भारत का मूल नागरिक है, उसके पूर्वज घुमन्तु, लुटेरे और आक्रान्ता नहीं थे। वह उन पूर्वजों का वंशज है जिन्होंने मानव के लिए अत्यन्त उपयोगी संस्कृति का निर्माण ही नहीं किया, विश्व को उदात्त ज्ञान और ध्यान भी दिया है और उसके पूर्वजों ने विश्व की सभी सभ्यताओं का नेतृत्व किया है। साथ ही उन्होंने अखिल विश्व को अपने–अपने चारित्र्य सीख लेने की प्रेरणा भी दी है –

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशदग्र जन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ।। (मनु 2.20)

इतिहास घटित होता है निर्देशित नहीं, जबकि भारत के मामले में इतिहास निर्देशित है। इसलिए आधुनिक ढंग से लिखा हुआ भारत का इतिहास, इतिहास की उस शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार, जो भारतीय ऋषियों ने दी थी, इतिहास है ही नहीं। अतः आज आधुनिक रूप में लिखित भारत के इतिहास पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है और वह भी भारतीय साक्ष्यों के आधार पर क्योंकि वर्तमान में सुलभ इतिहास निश्चित ही भारत का और उस भारत का, जो एक समय विश्वगुरु था, जो सोने की चिड़िया कहलाता था और जिसकी संस्कृति विश्व–व्यापिनी थी, हरगिज नहीं है।

❐❐

महाभारत के बाद भारत के विभिन्न राजवंशों के राजागण

विभिन्न पुराणों में दिए गए विवरणों के अनुसार महाभारत के युद्ध के बाद अयोध्या, हस्तिनापुर और मगध राज्यों की गद्दियों पर बैठे राजाओं के वंशावली के साथ–साथ मगध की गद्दी पर बैठने वाले विभिन्न अन्य राजवंशों के राजाओं के नाम इस प्रकार हैं–

अयोध्या के सूर्यवंशी राजा

कुल 30 राजाओं के नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. वृहन्क्षण/वृहद्रण/वृहत्क्षण, 2. उरुक्षेप/उरुकिय/उरुयक्ष, 3. वत्सव्यू/ वत्सवृद्ध/वत्सव्यूह, 4. प्रतिव्योम, 5. दिवाकर, 6. सहदेव, 7. वृहदश्व/ध्रुवाश्व, 8. भानुरथ/भानुमान, 9. प्रतिताश्व/प्रतिपाथ/प्रतिकाश्व, प्रतितस्य, 10. सुप्रतीक, 11. मरुदेव, 12. सुनक्षत्र, 13. किन्नर या पुष्कर, 14. अन्तरिक्ष/अनथरक्षक, 15. सुवर्ण/ सुपर्ण/सुतया, 16. अमित्रजित, 17. बृहद्राज/ब्रहदभज, 18. धर्मी/वीर्यवान/बर्हि, 19. कृतंजय/धनंजय, 20. रणंजय, 21. संजय, 22. शाक्य, 23. शुद्धोदन, 24. सिद्धार्थ/ गौतम बुद्ध (राजा नहीं बने थे), 25. राहुल/लागल/पुष्पकल, 26. प्रसेनजित, 27. क्षुद्रक/विरुद्रक/कहुद्रक/विरुढक, 28. कुण्डक/रणक/कुलक, 29. सुरथ, 30. सुमित्र।

हस्तिनापुर के चन्द्रवंशी राजा

कुल 31 राजाओं के नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार है –

1. युधिष्ठिर, 2. परीक्षित, 3. जनमेजय, 4. शतानीक (प्रथम), 5. सहस्रानीक, 6. अश्वमेधदत्त, 7. अधिसीमकृष्ण, 8. निचक्षु/निचक्ष, 9. उष्ण या भूरि, 10. चिद्धरथ/चित्रथ, 11. शुचिद्रथ/सुचिद्रव, 12. वृष्णिवत/वृष्णिमान्, 13. सुषेण, 14. सुनीथ या सुतीर्थ, 15. रुथ/रुच, 16. वृवधु/वृचक्षु, 17. सुखीबल, 18. परिष्णव/परिप्लव, 19. सुपतस/सुनय, 20. मेधावी/मेधाविन, 21. पुरंजय/नृपंजय, 22. उर्व/मृदु/दुर्व, 23.

तिग्मात्मा/निग्म/ निमि, 24. बृहद्रथ, 25. वसुदान/वसुदामन, 26. शतानीक (द्वितीय), 27. उदयन/उद्भव, 28. वहीनर, 29. दण्डपाणि, 30. निरामित्र, 31. क्षेमक

मगध के विभिन्न राजवंश

महाभारत युद्ध के पश्चात अर्थात 3138 ई. पू. में मगध की गद्दी पर बार्हद्रथ वंश के मार्जारि के बैठने से लेकर गुप्त वंश से पूर्व तक के 8 वंशों के कुल 97 राजाओं ने 2811 वर्ष तक राज्य किया। अलग–अलग वंशों के राजाओं के नाम इस प्रकार हैं –

प्रथम राजवंश : बार्हद्रथ वंश के 22 राजा (राज्यकाल 1006 वर्ष)

1. मार्जारि/सोमाधि, 2. श्रुतश्रवा/श्रुतवान, 3. अप्रतायु/अयुतायु, 4. निरामित्र/ निरमित्र, 5. सुक्षत्र/सुरक्ष, 6. वृहत्कर्मा, 7. सेनाजित/सेनजित, 8. श्रुतंजय, 9. महाबल/ महाबाहु, 10. शुचि, 11. क्षेम, 12. सुव्रत/अनुव्रत, 13. सुनेत्र/धर्मनेत्र, 14. निर्वृत्ति/ निवृत्ति, 15. त्रिनेत्र/सुव्रत, 16. द्रूर्हसेन/दृढ़सेन/द्युमत्सेन, 17. सुमति/सुचल, 18. सुचल/अबल, 19. सुनेत्र, 20. सत्यजित, 21. वीरजित/विश्वजित, 22. रिपुंजय

द्वितीय राजवंश, प्रद्योत वंश के 5 राजा (राज्यकाल 138 वर्ष)

1. प्रद्योत, 2. पालक, 3. विशाखयूप, 4. सूर्यक/राजक/जयक, 5. नंदिवर्धन/ कीर्तिवर्धन

तृतीय राजवंश : शिशुनाग वंश के 10 राजा (राज्यकाल 360 वर्ष)

1. शिशुनाग, 2. काकवर्ण/काकवर्णा, 3. क्षेमधर्मा/क्षेमवर्मा, 4. क्षेत्रज/क्षेत्रज्ञ/ क्षेत्रोजा, 5. बिम्बिसार, 6. अजातशत्रु, 7. दर्भक/दर्शक, 8. उदीयन/उदायी, 9. नन्दिवर्धन, 10. महानन्दिन

चतुर्थ राजवंश : नन्द वंश के राजा (राज्यकाल 100 वर्ष)

1. महापद्मनन्द, 2. सुमाल्य आदि पुत्र

पंचम राजवंश : मौर्य वंश के 12 राजा (राज्यकाल 316 वर्ष)

1. चन्द्रगुप्त मौर्य, 2. बिन्दुसार, 3. अशोक/अशोकवर्धन, 4. सुपार्श्व/सुयश/ कुणाल, 5. दशरथ/बन्धुपालित, 6. इन्द्रपालित, 7. हर्षवर्धन, 8. संगत/सम्प्रति, 9. शालिशूलक/बृहस्पति, 10. सोमशर्मा/देवधर्मा, 11. शतधन्वा/शतधनु, 12. बृहद्रथ

षष्ठम राजवंश : शुंग–वंश के 10 राजा (राज्यकाल 300 वर्ष)

1. पुष्यमित्र, 2. अग्निमित्र, 3. वसुमित्र, 4. सुज्येष्ठ/वसुमित्र, 5. भद्रक/अन्ध्रक, 6. पुलिन्दक/पुलिन्द, 7. घोषवसु/घोष/घोषसुत, 8. वज्रमित्र, 9. भागवत, 10. देवभूति/क्षेमभूमि

सप्तम राजवंश : कण्व वंश के 4 राजा (राज्यकाल 85 वर्ष)

1. वसुदेव, 2. भूमिमित्र, 3. नारायण, 4. सुशर्मा

अष्टम राजवंश : आंध्र वंश के 32 राजा (राज्यकाल 506 वर्ष)

1. श्रीमुख/शिमुक/शिशुक, 2. श्री कृष्ण शातकर्णि, 3. श्रीमल्ल शातकर्णि, 4. पूर्णोत्संग, 5. श्रीशातकर्णि, 6. स्कन्धस्तविन/स्तम्भी, 7. लम्बोदर, 8. अपिलक/आपितक, 9. मेघस्वाति, 10. सतस्वाति, 11. स्कन्द स्वाति/स्कन्द शातकर्णि, 12. मृगेन्द्र स्वातिकर्ण/ मृगेन्द्र शातकर्णि, 13. कुन्तल शातकर्णि, 14. सौम्य शातकर्णि, 15. सत शातकर्णि/ स्वातिकर्ण, 16. पुलोमन शातकर्णि/पुलोमावि, 17. मेघ शातकर्णि, 18. अरिष्ट शातकर्णि, 19. हल, 20. मन्तलक/पत्तलक, 21. पुरीन्द्रसेन/पुलिन्दसेन, 22. सुन्दर शातकर्णि, 23. चकोर शातकर्णि, 24. महेन्द्र शातकर्णि, 25. शिव शातकर्णि/स्वाति, 26. गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि, 27. पुलोमन/पुलोमावि–II, 28. शिवश्री शातकर्णि, 29. शिवस्कन्द शातकर्णि, 30. यज्ञश्री शातकर्णि, 31. विजयश्री शातकर्णि, 32. चन्द्रश्री शातकर्णि, 33. पुलोमन/ पुलोमावि–III

नवम राजवंश : गुप्त वंश के 7 राजा (राज्यकाल 245 वर्ष)

1. चन्द्रगुप्त–I, 2. समुद्रगुप्त, 3. चन्द्रगुप्त–II, 4. कुमारगुप्त, 5. स्कन्दगुप्त, 6. नरसिंहगुप्त, 7. कुमारगुप्त–II

उक्त वंशावली के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कई राजाओं को अलग–अलग पुराणों में अलग–अलग नामों से सम्बोधित किया गया है। यहाँ या तो अलग–अलग नाम दे दिए हैं या अधिकतर रचनाओं में उपलब्ध एक जैसे नाम को ले लिया है। विभिन्न पुराणों में दिए गए नामों के साथ–साथ उक्त सूची में सूर्यवंश के राजाओं के लिए श्रीराम साठे की पुस्तक 'डेट्स ऑफ बुद्ध', चन्द्रवंश के लिए आचार्य रामदेव कृत 'भारतवर्ष का इतिहास', खण्ड–2 और मगध साम्राज्य के विभिन्न वंशों के राजाओं के नामों और उनके राज्यकालों के लिए उक्त स्रोतों के अतिरिक्त पं. कोटावेंकटचलम की पुस्तक 'दि प्लाट इन इण्डियन क्रोनोलोजी' तथा पं. भगवद्दत्त के 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास', भाग–2 से भी सहयोग लिया गया है। ❐

लेखक द्वारा लिखित/सम्पादित 160 से अधिक प्रकाशनों में से कतिपय उल्लेखनीय

राजभाषा हिन्दी के प्रयोग के संदर्भ में

(फाइलों में टिप्पणियाँ–लेखन तथा प्रारूपण)

- सामान्य प्रशासन
- लेखा परीक्षा (संशोधित)
- रेलवे माल परिवहन
- माल पूर्ति
- बैंक व्यवहार
- उत्पाद शुल्क कार्य दर्शिका
- प्रयोजन मूलक हिन्दी (सरकारी काम–काज में)
- द्विभाषी फार्म
- सेवा पंजी प्रविष्टियाँ
- संघ की राजभाषा
- हिन्दी कार्यशाला
- प्रशासनिक शब्दावली (हिन्दी–अंग्रेजी)
- विभिन्न विभागों की शब्दावली पुस्तिकाएँ एवं चार्ट
- हिन्दी परिचय–द्वैमासिक पत्रिका (24 वर्षों तक सम्पादन)

सांस्कृतिक विषयों के संदर्भ में

- अयोध्या की कहानी (मराठी और उड़िया में भी अनूदित)
- अयोध्या की बलिदानी गाथा
- तिथियाँ जो इतिहास बन गईं (श्रीराम जन्मभूमि मन्दिर निर्माण के संदर्भ में)
- विश्व हिन्दू परिषद समग्र दर्शन
- सतत साधना यात्रा के तीस वर्ष
- हमारा सांस्कृतिक स्वर्ग : कैलास–मानसरोवर
- श्रीकृष्ण जन्मभूमि की न्यायिक स्थिति
- वैवस्वत मन्वंतर में सृष्टि–निर्माण कहाँ, कैसे और कब ?
- श्रीराम कथा की व्यापकता
- भारतीय एकात्मता के अग्रदूत (आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य)
- भारत का आधुनिक इतिहास लेखन–एक प्रवंचना
- महापुराण सार
- प्रेरणा के अमर स्वर
- हिन्दू संस्कृति के ग्रन्थ
- धर्मसंसद की 15 वर्षीय यात्रा
- स्मृतियों में भारतीय जीवन पद्धति
- विश्वव्यापी भारतीय संस्कृति
- भारतीय इतिहास में विकृतियाँ– क्यों, कैसे और क्या–क्या ?
- करम (करमा) व्रत उत्सव
- भारत के प्राचीन साहित्य में विज्ञान
- वि.हि.प. की 42 वर्षीय विकास यात्रा

स्मारिकाएँ/पत्रिकाएँ

- प्रशासन में हिन्दी–सतत साधना के 25 वर्ष
- श्रद्धांजलि स्मारिका
- गंगाश्री धर्मसंसद विशेषांक
- एकात्मता दर्शन
- Hindu Vishva Rajat Jayanti (Spl. Issue)
- हिन्दू विश्व सेवा प्रकल्प विशेषांक
- श्रीरामशिला पूजन समाचार (साप्ताहिक)
- गंगाश्री कुम्भ विशेषांक
- गंगाश्री महाकुम्भ विशेषांक
- हिन्दू विश्व : रजत जयन्ती विशेषांक
- Hindu Vishva Seva Prakalpa (Spl. Issue)
- Nar Seva Narayan Seva